सम्मेलन-निबंध-माला

भाग २

संपादक

श्री गिरिजादत्त शुक्ल, 'गिरीश' बी० ए०

श्री ब्रजभूषण शुक्ल, 'विशारद'
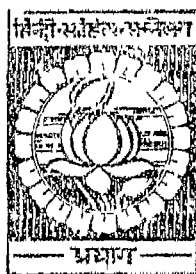
२००३

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

भूमिका

मनुष्य अपने जीवन के प्रत्येक क्षण शक्ति की कल्पना, शक्ति की अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति के प्रयत्नों ही में लगा रहता है। शक्ति की कल्पना तो विराट् होनी ही चाहिये, किन्तु उससे भी अधिक महत्वपूर्ण है शक्ति की अनुभूति; क्योंकि कल्पना तो उत्कण्ठा बढ़ाकर, पिपासा जाग्रत करके रह जाती है; तृप्ति प्रदान करने का काम तो केवल अनुभूति के द्वारा होता है। कल्पना और अनुभूति दोनों ही को लेकर मनुष्य नाना रूपों में हमारे सामने उपस्थित होता है; विभिन्न साधनों के द्वारा वह उन्हें व्यक्त करने की चेष्टा करता है। जैसे कल्पना वैज्ञानिक चेष्टाओं को उद्दीप्त करती है वैसे ही वह कलाओं के उत्थान के लिये, विकास के लिए अवलम्ब प्रदान करती है। इसी अवलम्ब से मनुष्य भिन्न-भिन्न अनुभूतियों के द्वारा शक्ति का नव-नव अनुसंधान करता रहता है। जैसे अनुसंधान होगा वैसी ही उसकी अभिव्यक्ति होगी। राजा अपनी शक्ति के अनुसंधान को सैनिक प्रदर्शन के रूप में व्यक्त करता है; महात्मा अपनी शक्ति के अनु-संधान को एकान्त-सेवन के रूप में प्रकट करता है; शाहजहाँ ने अपनी प्रिया को खोकर स्मारक-रूप में ताजमहल बनाया; गौतम बुद्ध ने अपनी प्रिया को महलों के समेत भुला दिया; दोनों ही के कार्यों में हमें दोनों की शक्ति का स्वरूप दिखायी पड़ा। जैसा मूल वैसा पत्ता; मूल में शक्ति न होगी तो उसकी अभिव्यक्ति में जान नहीं पड़ सकती।

वैज्ञानिकों और कलाकारों के लिये, लेखकों और कवियों के लिये कल्पना, अनुभूति और अभिव्यक्ति तीनों ही का, अपने

स्थान में, निर्विवाद महत्व है। यहाँ कल्पना और अनुभूति के सम्बन्ध में विशेष निवेदन करने के लिये स्थान का अभाव है; हमारा प्रस्तुत कार्य-क्षेत्र तो केवल उस अभिव्यक्ति के परीक्षण ही तक परिमित है, जो हिन्दी के गद्य-लेखकों की शक्ति का हमें पता देती है। विशेषकर निबन्ध लेखकों की शक्ति का। इस अभिव्यक्ति की जाँच अनेक कारणों से आवश्यक है; जाँच करने ही से हमें उसके दोषों का पता लगेगा, उन दोषों के निवारणार्थ किये गये आन्दोलन के द्वारा हम अपनी शक्ति के मूल प्रवाह का संशोधन करने में लगेंगे और इस आमूल संशोधन के द्वारा ही उच्च कोटि के निबन्ध-साहित्य की सृष्टि संभव हो सकती है।

गद्य के दो विभाग किये जा सकते हैं—(१) विवेचनात्मक गद्य-साहित्य, (२) रचानात्मक गद्य-साहित्य। प्रथम विभाग में उस सम्पूर्ण गद्य-साहित्य का समावेश हो सकता है जो हमारे व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन के रक्षार्थ, तथा उसे अधिक सुविधापूर्ण बनाने के लिये किये गये संघर्ष को व्यक्त करता है; द्वितीय विभाग के अन्तर्गत वह गद्य-साहित्य आता है, जिसमें हमें विभिन्न, सर्वकालीन, सर्वदेशीय मानव अनुभूतियों का चित्र मिलता है, जिनका विकास देश और काल की विशेष परिस्थितयों में होता है।

भाषा के विकास के पहले मनुष्य की अवस्था पशुओं से किसी प्रकार अच्छी नहीं थी; कुछ इशारों की सहायता से वह अपने मनोभावों को व्यक्त कर लेता था या मौन बना रहता था। इशारों द्वारा कभी मन की बात ठीक तरह से प्रकट होती थी और कभी नहीं। किन्तु जब यह आवश्यक ही हो जाता था कि मन के विचार दूसरे पर प्रकट किये जायँ तो इशारों का साधन त्रुटिपूर्ण होने पर भी उन्हीं का उपयोग करने के लिये बाध्य होना पड़ता था। यह मनुष्य की अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था की बात है।

मनुष्य की आवश्यकताएँ घटने की जगह बढ़ती ही गईं। इस कारण विचारों के आदान-प्रदान के, भावों के विनिमय के अवसर भी बढ़ते ही गए। इन्हीं अवसरों ने उसके इशारों को माँजकर एक टूटी-फूटी भाषा का निर्माण किया। अपनी भाषा का संस्कार वह अनन्त काल से करता आ रहा है और अनन्त काल तक करता रहेगा; क्योंकि उसकी आवश्यकताएँ अनन्त हैं, उसके विचार अनन्त हैं, उसके भाव अनन्त हैं।

मनुष्य की इच्छा यह है कि वह अपने हृदय की बात को दूसरे के हृदय में ठीक तौर से पैठा सके। इसके लिए वह अपनी प्रस्तुत भाषा का संस्कार करता है, उसके द्वारा कुछ दिनों तक वह मनोरञ्जन करता है; फिर कुछ दिनों के बाद एक नयी हवा चलती है, उसकी इच्छाओं और आवश्यकताओं पर एक नवीन युग की छाप लगती है और भाषा को उसके अनुरूप बनाने का उद्योग शुरू हो जाता है। इस प्रकार भाषा के अनुसंधान, संस्कार और त्याग का फेरा सृष्टि, स्थिति, संहार की त्रयी के चक्र की तरह निरन्तर हुआ करता है, और हमारे अभिव्यक्ति के साधनों में परिवर्तन होता रहता है।

जिस युग में हम साँस ले रहे हैं वह नवीन आवश्यकताएँ, नवीन आकांक्षाएँ लेकर हमारे सामने उपस्थित हुआ है। वैसी आवश्यकताओं और आकांक्षाओं की पूर्ति का भार हमारी प्रस्तुत हिन्दी भाषा के कन्धों पर कभी नहीं पड़ा था। कुछ समय पहले तक थोड़े से भक्तों के हृदय का उद्गार, थोड़े से उपदेशकों और कथावाचकों की 'जो है सो' की तुतली बोली ही को उसने श्रवण किया और कराया था। किन्तु आज केवल इतने से काम नहीं चल सकता। आज उसे सम्पूर्ण विश्व के जीवन के साथ सम्बद्ध भारतीय जीवन की अभिव्यक्ति करनी है। उसे इस महान कार्य का उत्तरदायित्व वहन करने की योग्यता भी

सम्पादित करनी पड़ेगी। इसी कारण हमारे लिये यह आवश्यक हो गया है कि हम एक ओर तो उसकी अभिव्यक्ति की त्रुटियों को समझें, और दूसरी ओर वर्त्तमान आवश्यकताओं के संबन्ध में एक धारणा निश्चित कर लें; तभी हम उसका उचित संस्कार करके उसे कुछ दिनों तक काम में आने योग्य बना सकेंगे।

वर्तमान युग में हमारे समाज का क्रमशः विस्तार हो रहा है। मनुष्य अपनी प्रारम्भिक अवस्थाओं में प्रायः स्वतंत्र था; उसकी आवश्यकताएँ थोड़ी थीं और उनकी पूर्ति अधिकांश में उसके आस-पास ही हो जाया करती थी। तब उसकी भाषा भी विदेशी शब्दों के आक्रमण से अधिक समय तक बची रहती थी। किन्तु शीघ्र ही मनुष्य ने अपनी बुद्धि का प्रयोग करके अपने जीवन में सुविधाओं का समावेश करना चाहा। उसी का परिणाम आज यह है कि सारा संसार एक बड़ा बाजार हो गया है, जिसमें ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से विश्व-व्यापी समाज में हम अपने आपको परतंत्र पाते हैं। रूस में बैठा हुआ एक वैज्ञानिक, भारतवर्ष के किसी जंगल में समाधिस्थ एक दार्शनिक, इंग्लैंड का एक कूटनीति-विशारद, फ्रांस अथवा जर्मनी का एक आविष्कारक, ये सब अपने कार्य-विशेष से न केवल अपने देश को, अपने समाज को प्रभावित कर रहे हैं, बल्कि सम्पूर्ण संसार के मानव-समाज की गति-विधि को निश्चित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। किसी विद्वान् का कहना है कि आक्रमणकारियों के सैनिक आक्रमण का निवारण तो किया भी जा सकता है, किन्तु ज्ञान के आक्रमण का निवारण करना संभव नहीं है। विज्ञान ने क्रमशः आवागमन के साधनों में वृद्धि करके दूरी की बाधा को बहुत कुछ कम कर दिया है, और इस बाधा को दूर होने पर विचार-धाराओं में संशोधन और परिवर्तन होने के साथ-साथ

विचारों और भावों की अभिव्यक्ति के साधनों में भी संशोधन और परिवर्तन अनिवार्य होता जा रहा है।

इस युग के ज्ञान ने हमारे देश की समस्याओं का जो हल प्रदान किया है, वह है उस भारतीय समाज की सृष्टि में सहायक होना जो प्रत्येक सार्वजनिक हित के प्रश्न पर राष्ट्रीय हित की दृष्टि ही से विचार करेगा, जिसके सामने सम्प्रदायों की संकीर्णता की बाधा नहीं रहेगी, जो सम्पत्ति अथवा अधिकार से युक्तवर्गों की ओर न झुककर मनुष्य के उत्थान ही को अपना लक्ष्य बनावेगा। हमारे समाज में दृष्टिकोणों की विभिन्नता कम नहीं है, साथ ही उस दर्शन का अभाव भी नहीं है जो जटिल विभिन्नताओं को भी एकता के सूत्र में पिरो सकती है। इन प्रवृत्तियों का संघर्ष भी हमारे देश में विचित्र परिणामों को उत्पन्न करता हुआ अग्रसर हो रहा है। हमारे जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में वह जिस रूप में कहीं क्षणिक विजय और कहीं क्षणिक पराजय का उपहार और दण्ड प्रदान कर रहा है उसके सम्यक् स्वरूप की मीमांसा हमारे निबन्ध का कार्य-क्षेत्र है।

हिन्दी गद्य-साहित्य का एक संक्षिप्त सिंहावलोकन करके हमें यह देख लेने की आवश्यकता है कि उसमें निबंध-विकास-सम्बन्धी परिस्थितियाँ कितनी अनुकूल थीं। साहित्यिक अपभ्रंश के पतन के पश्चात् जिस समय हिन्दी को साहित्यिक भाषा का स्थान मिला, उस समय कई बोलियाँ प्रचलित थीं, यद्यपि यह सम्मान उस बोली ही को मिला जिसके ढाँचे पर ब्रजभाषा विकसित हुई है। इन बोलियों में से एक वह थी जो मेरठ, बिजनौर आदि प्रान्तों में और उसके आस-पास वर्तमान खड़ीबोली की क्रियाओं के साथ बोली जाती थी। यह वह काल था जब मुसलमानों का भारत पर आक्रमण हो चुका था। मुसलमान विजेताओं ने पंजाब के मध्य से प्रवेश करके दिल्ली में अपना अड्डा जमाया था।

उनके संसर्ग से इस बोली पर फारसी और अरबी का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। क्रमशः यही बोली फारसी और अरबी के शब्दों को ग्रहण करते करते उस रूप को प्राप्त हो गई जिसका बोध उर्दू शब्द से होता है। यदि उस समय उक्त प्रान्तों के आस-पास मुसलमानों के स्थान में हिन्दू राजाओं और संस्कृति का प्रभाव होता तो आज खड़ी बोली का संस्कृत-गर्भित रूप बहुत ही मँजा हुआ होता। किंतु परिस्थिति की प्रतिकूलता के कारण खड़ीबोली का विकास रुक गया।

यदि हिन्दी की अन्य बोलियों के बोलने वालों में अधिक निकट सम्पर्क और संघर्ष होता, तो उपेक्षित खड़ीबोली के लिये यह सर्वथा सम्भव था कि वह तत्कालीन हिन्दू-राज दरबारों में सम्मानित होकर विकास का अवसर पाती। उस अवस्था में सम्भव है, जिन साधुओं और महात्माओं ने अवधी, ब्रजभाषा आदि में गद्य लिखने का कार्य किया वे भी खड़ीबोली ही की ओर आकर्षित होते, क्योंकि हिन्दू दरबारों और हिन्दू सन्तों-महात्माओं में घनिष्ठ सम्बन्ध होना स्वाभाविक था। किन्तु ऐसा नहीं था। परिणाम यह हुआ कि सम्पूर्ण कार्य असंगठित रह गया। न देशी रियासतों ही में गद्य का विकास हुआ और न सन्तों-महात्माओं के किये ही कुछ विशेष प्रगति की जा सकी। मेवाड़ की सनदों में हमें गद्य का जो नमूना मिलता है, वह एक देशीय रह गया। इसी प्रकार महात्मा गोरखनाथ का पूर्वी हिन्दी और स्वामी विट्ठलनाथ का ब्रजभाषा में लिखित गद्य जनता के दैनिक जीवन में उपयोगी विषयों के अभाव के कारण उन्नति न कर सका। एक बात और; इन बोलियों पर भी खड़ीबोली की क्रियाओं का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सका और गंगा [सं०१६२५] की पंक्ति "इतनी सुन के पातशाहा जी श्री अकबर शाहा जी आद सेर सोना नरहरदास चारन को दिया इनके डेढ़

सेर सोना हो गया" में खड़ीबोली की क्रियाओं की स्पष्ट विजय दिखाई पड़ती है। गोस्वामी गोकुलनाथ जी ने [सं० १६४८] भी "अङ्गीकार कब करोगे, अङ्गीकार करेंगे," आदि खड़ीबोली की क्रियाओं का व्यवहार किया। बनारसीदास जी महात्मा तुलसीदास जी के, जिनके नाम से अवधी में लिखा एक पंचनामा प्रख्यात है, समकालीन थे। उनकी भाषा में 'सुनो' क्रिया देखने में आती है, यद्यपि भाषा खड़ीबोली नहीं है। यह सब उस प्रभाव का परिणाम था जो खड़ीबोली की क्रियाओं को उर्दू के सम्मान के कारण प्राप्त था।

जटमल कृत गोरा-बादल की कथा को देखकर तो यह स्पष्ट हो जाता है कि खड़ीबोली की क्रियाएँ लोक-प्रिय हो रही थीं। "हुआ है," "तयार करी है", आदि क्रिया-शब्दों से यह बात प्रकट हो जाती है। अठारहवीं शताब्दी में दासजी ने जो गद्य लिखा उसमें "एक त्याग है", "मालूम होता है", आदि क्रियाओं का रूप मिलता है। सुरति मिश्र ने सं० १७६७ में लिखा—"सोने के कुसुम तिन पर तरकारी आये हैं।" मुंशी सदासुख लाल ने खड़ीबोली के गद्य का बहुत अधिक बल बढ़ाया। उनकी भाषा में अवधी और ब्रजभाषा के प्रयोग तो खूब आते थे, लेकिन वे जी से खड़ीबोली ही लिखना चाहते थे। सैयद इंशाअल्लाखाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' लिखी। उसमें उन्होंने ठेठ हिन्दी लिखने की कोशिश की, लेकिन उर्दू के बेहद बढ़े हुए बल का प्रभाव इंशाअल्ला खाँ की भाषा पर बहुत अधिक स्पष्ट है।

अवधी में निबन्ध की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। ब्रजभाषा में सम्भवतः इसका विकास हो सकता, किन्तु हिन्दी-गद्य और हिन्दी-निबन्ध का परिमार्जित स्वरूप प्रस्तुत करने का श्रेय खड़ीबोली ही को प्राप्त होना था। और यह हुआ एक बहुत साधारण घटना द्वारा। उन्नीसवीं शताब्दी के शुरू में डाक्टर

गिलक्रिस्ट साहब ने सदल मिश्र और पं० लल्लू जी लाल को इस देश की भाषा में कुछ ऐसी गद्य-पुस्तकें लिखने की आज्ञा दी, जिनसे साहब लोग इस देश की बोली समझें और इस देशवाले साहबों की बातों को समझ सकें। इसके अतिरिक्त स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा राजा लक्ष्मणसिंह ने भी इस कार्य को आगे बढ़ाने में बहुत भाग लिया।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के प्रवेश से हिन्दी-निबन्ध में युगान्तर हुआ। समाचार-पत्रों, मासिक पत्रों और अन्य सामयिक पत्रों में पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० माधवप्रसाद मिश्र, पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि लेखकों ने उसका उपयोग करके उसका मनोहर विकास उपस्थित किया। वर्तमान समय में तो निबन्ध-रचना का और भी सुन्दर विकास हो गया है।

निबन्ध के बाह्य ढाँचे तथा आंतरिक स्वरूप दोनों ही पर दृष्टि डालते हैं तो उसकी अनेक विशेषताएँ हमारे सामने उपस्थित होती हैं। उसका बाह्य ढाँचा पत्र का रूप धारण कर सकता है, दो व्यक्तियों के सम्भाषण के रूप में प्रकट हो सकता है, अथवा केवल साधारण रूप से, किसी व्यक्ति विशेष का सम्बन्ध ध्यान में न रखकर, लिखा जा सकता है। यह भिन्नता उल्लेख-योग्य होने पर भी उतना महत्त्व नहीं रखती जितना वह भिन्नता रखती है जो निबन्ध के भीतरी तत्त्व को पृथक् पृथक् करके दिखलाती है। उदाहरण के लिए, किसी निबन्ध का विषय वर्णनात्मक हो सकता है तो किसी का चिंतनात्मक; किसी का काव्यात्मक हो सकता है तो किसी का विवेचनात्मक; किसी का इतिवृत्तात्मक हो सकता है तो किसी का भावात्मक, आदि। निबन्ध का ठीक-ठीक उपयोग करने के लिए यह आवश्यक है कि उसके इन सभी रूपों का अध्ययन किया जाय।

सभी पत्र निबन्ध नहीं कहे जा सकते हैं और न दो व्यक्तियों

के पारस्परिक सभी भाषण निबन्ध की संज्ञा प्राप्त कर सकते हैं। निबन्ध कहलाने के लिए प्रत्येक रचना को एक विशेष कसौटी पर चढ़ना होगा।

निबन्ध के आरम्भ में लेखक विषय के सार-स्वरूप एक शीर्षक का निर्वाचन करता है। शीर्षक सम्पूर्ण निबन्ध के ढाँचे के लिए एक कुञ्जी का काम देता है। कभी-कभी चमत्कार उत्पन्न करने के मोह में शीर्षक के लिये अप्रचलित और भ्रामक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इससे लेखक की उद्देश्य-सिद्धि में सहायता नहीं प्राप्त होती। ऐसी प्रवृत्ति से नवीन लेखकों को बचना चाहिये। निबन्ध लिखने के लिये लेखनी हाथ में उठाने के पहले लेखक के लिये उचित है कि प्रतिपाद्य विषय को अच्छी तरह हृदयंगम कर ले। तत्त्व के सम्बन्ध में जितना ही संदेह हमारे हृदय में रहता है उतनी ही अधिक जटिलता और दुरूहता हमारे शीर्षक के निर्वाचन में भी आती है।

उदाहरण के लिये, एक बार एक लेखक ने अपनी पुस्तक की भूमिका का शीर्षक 'विज्ञापन' रक्खा। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि अर्थ की दृष्टि से इस शब्द के प्रयोग में कोई हर्ज नहीं है, किन्तु फिर भी 'विज्ञापन' शब्द का प्रयोग अधिकांश में जिस अर्थ में होता है उसकी दृष्टि से भ्रम तो उत्पन्न होता ही है। शीर्षक स्थिर होने के अनन्तर निबन्ध का विस्तार और विकास आरम्भ होता है। इस विकास के तीन अङ्ग हैं—(१) भूमिका, (२) निबन्ध का पेटा, (३) निष्कर्ष।

निबन्ध की भूमिका लिखने में उस अवस्था में विशेष सुविधा होती है जब निबन्ध में व्यक्त किये जाने वाले भावों अथवा विचारों पर लेखक का पूर्ण अधिकार हो। ऐसा होने पर लेखक सरल और रोचक ढङ्ग से भूमिका बाँध कर आगे बढ़ सकता है। वास्तव में भूमिका लिखने के लिए कोई नियम निर्धारित नहीं

किया जा सकता। भिन्न-भिन्न लेखक अपने विषय की भूमिका भिन्न-भिन्न प्रकार से उपस्थित करते हैं। कोई-कोई लेखक दो ही तीन बातों को लिख कर अपने निबन्ध का द्वार खोल देते हैं; कुछ लेखक अपने लेख की पृष्ठभूमि को अच्छी तरह समझा कर आगे बढ़ते हैं। नीचे हम 'रस-कलस' नामक ग्रंथ पर दो लेखकों द्वारा लिखे हुए निबन्धों की भूमिकाएँ उदाहरण के रूप में उद्धृत करते हैं :--

[१]

"जो रस प्रबन्ध-काव्यों में धारा के रूप में बहता है वही मुक्तक पद्यों की छोटी-छोटी नलिकाओं से पिचकारी की तरह छूटता है। यह पिछला ढङ्ग समाज और जलसों के अधिक अनुकूल पड़ता है। इसी से प्रबन्धों के साथ-साथ मुक्तकों की परम्परा भी बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। हिन्दी के पुराने कवियों ने साहित्य ग्रन्थों में निरूपित रस के अवयवों के क्रम में अपनी फुटकल रचनाओं के सन्निवेश की जो परिपाटी चलाई वह बहुत दिनों तक हिन्दी साहित्य में चलती रही है। आज-कल हिन्दी के जिन लब्धप्रतिष्ठ पुराने कवियों को हम काव्य के आधुनिक मार्ग पर पाते हैं उनमें से कई एक उस पुरानी परिपाटी पर अत्यन्त रसमयी रचना कर चुके हैं। ऐसे कवियों में आधुनिक काव्य-क्षेत्र के महारथी 'हरिऔध' जी प्रमुख हैं। आज-कल लोग प्रायः खड़ी बोली के कई रूपों की झलक दिखाने वाले उनके उन प्रौढ़-सरस और मधु-सिक्त काव्यों से ही परिचित हैं, जिन्होंने खड़ी बोली काव्य के गौरवपूर्ण भविष्य को स्थिर किया है। उनकी ब्रजभाषा की नयी और पुरानी कविताओं के माधुर्य के आस्वादन का सौभाग्य बहुत लोगों को प्राप्त नहीं हुआ था। मेरी बहुत दिनों से इच्छा थी कि 'हरिऔध' जी की ब्रजभाषा

की माधुरी भी लोगों को सुलभ हो जाय। सौभाग्य से मेरी इच्छा पूरी हुई। ब्रजभाषा का रस-भरा स्वर्ण-कलस सामने आया।"

—रामचन्द्र शुक्ल

[२]

"नित्य के जीवन से कुछ नैमित्तिक समय निकाल कर थोड़े दिनों तक मैं एक आदर्श साहित्य-शास्त्र या लक्षण-ग्रन्थ की खोज में फिरता रहा हूँ। एक ओर अपनी पढ़ी सम्पूर्ण कविता की समष्टि और दूसरी ओर संस्कृत, अंग्रेजी, यूरोपीय तथा तथा हिन्दी साहित्य-दर्शन की पुस्तकें देखता हुआ मेरा मन उन दिनों कुछ विशिष्ट प्रकार की अनुभूतियों का केन्द्र हो रहा था। और मेरी कल्पना मेरे मन के साथ जिन सुदूरवर्त्ती प्रदेशों में भ्रमण किया करती थी उनकी स्मृति आज भी हृदय में एक अनुपम सुख का संचार करती है। उसी सुख-पूर्ण स्मृति के उल्लेख से मैं 'रस-कलस' सम्बन्धी यह वक्तव्य आरम्भ करना चाहता हूँ। सर्वप्रथम जब मैंने कविता की सर्वाङ्ग-सुषमा, उसकी अन्तर-बाह्य-रूप-रेखा देखी, मेरी जिज्ञासा हुई कि यह क्या है। मैं पुनः कुछ समय तक उसी की ओर अनिमेष भाव से देखता रहा। मैंने देखा कि जितनी बड़ी संख्या और परिमाण में यह शुभ कविता मेरे सामने है वह फिर भी कम है। संसार की अनेकानेक भाषाओं और लिपियों में लिखी कविता—जिससे प्रत्यक्ष में मेरा कुछ भी परिचय नहीं—मेरी कल्पना के सम्मुख उपस्थित होने लगी। यही नहीं, भविष्य के अशेष आकाश में ज्योति-रश्मियों की भाँति उदय होने वाली अनन्त कविता-किरणें मेरे मन को आलोक-विस्मित करने लगीं। किन्तु क्षण भर में ही सचेत होकर मैं कविता की इस अनंतता का मर्म समझने को उद्यत हुआ। वास्तव में कविता की यह अनन्तता प्रकृति की ही

अनन्तता का एक अंश है। जो प्रकृति अपने प्रशस्त विस्तार में निस्सीम और अप्रतिम है उसे चैतन्य मनुष्य अपने में समेट कर प्रतिमा का रूप प्रदान करना चाहता है। केवल कविता के ही क्षेत्र में नहीं, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष की प्रकृति पर यह अधिकार-लालसा व्याप्त हो रही है। यही मनुष्यों की सम्पूर्ण विद्याओं की जननी है, इसके बिना उसके सभी व्यापार विशृङ्खल हैं। कविता भी मनुष्यों की एक विद्या—सूक्ष्म और मानसिक कला है। इसके अभ्यासी प्रकृति के अनन्त रूपों को अपने मनः-क्षेत्र में सजाते और क्रमशः उन्हें व्यक्त करते हैं। प्रकृति पर कवियों का अधिकार यद्यपि व्यापक और निर्विकल्प होता है, किन्तु इस अधिकार में कठोरता या कृत्रिमता का आभास नहीं। मानो प्रकृति स्वयं आत्म-समर्पण करती है और कवि उसे अपने हृदय-सिंहासन की सम्राज्ञी बनाता है। इसी कारण कविता में प्रकृति की व्यंजना नितान्त अविकृत और पूर्ण प्राकृतिक होती है। इसी प्राकृतिकता के कारण यूनान के जगत्प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू ने कविता की भ्रामक व्याख्या उसे 'प्रकृति का अनुकरण' कहकर की थी। इस भ्रम में भी कवियों के हृदय की कोमलता—अविकल रूप में प्रकृति को सुरक्षित रखने और प्रकट करने की प्रेरणा—लक्षित होती है। यद्यपि सच पूछा जाय तो कविता प्रकृति की अनुकृति नहीं है वह प्रकृति के उपकरणों की बनी मनुष्य की चेतना की एक सजीव सृष्टि कही जा सकती है।"

—नन्ददुलारे वाजपेयी

उक्त दोनों ही भूमिकाएँ अपने-अपने निबन्ध के लिए उपयोगी और उचित हैं; किन्तु द्वितीय अवतरण की अपेक्षा प्रथम अवतरण अधिक सरलतायुक्त तथा संक्षिप्त है। यह स्मरण रखना चाहिए कि लम्बी भूमिका से पाठक का मन आरम्भ ही में ऊबने लगता है।

निबन्ध का पेटा ही निबन्ध के समस्त विचारों के संकलन, संगठन, परीक्षण तथा पक्ष-विपक्ष सम्बन्धी समस्त तर्कों के समावेश का स्थल है। जितना ही सुव्यवस्थित यह अंग होगा उतना ही महत्व निबन्ध प्राप्त करेगा। किन्तु इस सम्बन्ध में आगे बढ़ने के पहले हमें निबन्ध की विविध श्रेणियों पर विचार कर लेना चाहिए।

निबन्ध का विभाजन निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है :—

(१) परिचयात्मक, (२) इतिवृत्तात्मक, (३) वर्णनात्मक, (४) चिन्तनात्मक, (५) काव्यात्मक, (६) विवेचनात्मक, (७) भावात्मक।

परिचयात्मक निबन्ध में किसी व्यक्ति अथवा वस्तु-विशेष का परिचय दिया जाता है। जीवन-चरित आदि इसी के भीतर समाविष्ट हैं। उदाहरण के लिए नीचे का अवतरण देखिए :—

"बङ्गाल में श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी बड़े भारी व्याख्याता समझे जाते थे। उनकी वक्तृता सुनने के लिये नवयुवकगण दीवाने रहते थे, किन्तु श्री विपिनचन्द्र पाल ने अपनी वक्तृत्व-शक्ति से सुरेन्द्र बाबू को भी पीछे कर दिया था। जितनी भीड़ पाल बाबू के व्याख्यानों में होती थी, उसकी आधी सुरेन्द्र बाबू की वक्तृताओं में होने लगी थी। श्रीयुत् पाल बङ्ग-भङ्ग के आन्दोलन को सार्वदेशिक बनाना चाहते थे। अतएव कांग्रेस के समाप्त होने पर उन्होंने समस्त भारत में दौरा करने का इरादा किया। इसी अवसर पर मद्रास के नवयुवकों ने दक्षिण भारत में दौरा करके व्याख्यान करने के लिए अनुरोध किया। पाल बाबू यह तो चाहते ही थे, वे फौरन राजी हो गये और 'बन्देमातरम्' से सम्बन्ध विच्छेद कर सन् १९०७ से मई मास में वे मद्रास पहुँचे। मद्रास में उनको जितना सम्मान मिला और वक्तृताओं को सुनने के

लिये जैसी भीड़ वहाँ होती थी, वैसा अवसर किसी अन्य को नसीब नहीं हुआ। ६ दिनों तक समुद्र के किनारे उन्होंने लगातार वक्तृता दी और प्रतिदिन बीस हजार से तीस हजार तक की भीड़ एकत्र होती थी। उनकी इन वक्तृताओं की ध्वनि लन्दन के 'टाइम्स' और 'स्पेक्टेटर' अखबारों तक पहुँची और उन पत्रों ने उन वक्तृताओं पर लेख लिखे।"

इतिवृत्तात्मक निबन्ध में किसी वृत्तान्त का ब्योरा दिया जाता है। कथन में कोई भावुकता नहीं होती, कोई चमत्कार नहीं होता, केवल तथ्य बातें सिलसिलेवार कह दी जाती हैं। निम्नलिखित अवतरण में पाठक इसका उदाहरण पाएँगे :—

"इसके अनन्तर सभा ने जिस काम की ओर ध्यान दिया वह बहुत महत्त्वपूर्ण था। प्राचीन हिन्दी-साहित्य की बहुत सी हस्तलिखित पुस्तकें पुस्तकालयों तथा गृहस्थों के यहाँ पड़ी हुई थीं और जिनके अस्तित्व का लोगों को पता न था। इसकी खोज की आवश्यकता थी। बङ्गाल की एशियाटिक सोसायटी, भारत तथा युक्त-प्रदेश और पंजाब की सरकारों की ओर से संस्कृत की प्राचीन पुस्तकों की खोज का काम हो रहा था। सभा ने उनका ध्यान प्राचीन हिन्दी पुस्तकों की खोज की आवश्यकता की ओर दिलाया। तदनुसार भारत-सरकार और एशियाटिक सोसायटी ने कुछ काम किया भी, पर वह यथेष्ट और सन्तोषजनक नहीं था। अनेक वर्षों के निरन्तर उद्योग के उपरान्त अन्त को सन् १८९९ ईसवी में युक्त-प्रदेश की सरकार को सभा ने प्राचीन पुस्तकों की खोज के लिये ४००) वार्षिक देना स्वीकार किया। यह काम बाबू श्यामसुन्दरदास को सौंपा गया और उन्होंने इस योग्यता से इस कार्य को सम्पादित किया कि डाक्टर ग्रियर्सन, डाक्टर हार्नवली, प्रोफेसर बोर्थ आदि पाश्चात्य विद्वानों ने इसकी प्रशंसा की। सभा ने पहले वर्ष की खोज के काम की

जो रिपोर्ट सरकार को दी उससे प्रसन्न होकर सरकार ने दूसरे वर्ष सहायता की रकम ४००) से बढ़ाकर ५००) कर दी। सन् १९१६ में यह सहायता १०००) वार्षिक कर दी गई। अब सन् १९२२ से गवर्नमेन्ट इस काम के लिए २०००) वार्षिक देती है। इस खोज के काम से २२ वर्षों में सैकड़ों अज्ञात कवियों और हजारों अप्रकाशित ग्रन्थों को अन्धकार के गर्भ से प्रकाश में लाने का श्रेय सभा को है। खोज के काम को बाबू श्यामसुन्दरदास और पण्डित श्यामविहारी मिश्र ने कई वर्ष तक चलाया। अब राय बहादुर हीरालाल के तत्त्वाधान में यह काम हो रहा है। खोज के काम की कई रिपोर्टें प्रकाशित हो चुकी हैं। प्रथम कई वर्षों के काम का एक संक्षिप्त विवरण हिन्दी में भी प्रकाशित किया गया है।"

वर्णनात्मक निबन्ध में किसी व्यक्ति अथवा वस्तु विशेष के किसी अंश अथवा सम्पूर्ण अंश का वर्णन किया जाता है। निम्नलिखित पंक्तियों में इसका उदाहरण देखिए :—

"कर्मवाद हमारे कर्म-शक्ति विषयक अज्ञान को ही दूर नहीं करता, बल्कि वह हमें आध्यात्मिकवाद की ओर अग्रसर करता है। कर्मवाद हमें बतलाता है कि हमें जो यह दृश्यमान जगत दिखलाई देता है, सब मिथ्या है। यह अज्ञान और अविद्या का ही कारण है कि जीव अपने सच्चित् और आनन्दमय स्वभाव को छोड़कर पर पदार्थों में हर्ष और विषाद की बुद्धि करता है। इस अनादिकालीन अविद्या के ही कारण मनुष्य में तृष्णा का प्रादुर्भाव होता है। कर्मवाद हमें जड़ और चेतन में विवेक, ख्याति पैदा करने की शिक्षा देता है। तथा यह आत्मा के असली भाव—ब्रह्म-भाव को प्रकट करता है। उपनिषद् के शब्दों में जब यह आध्यात्मिकवाद पराकाष्ठा को पहुँचता है, तब 'हृदय' की सब ग्रन्थियाँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, संपूर्ण मन के संशय नष्ट

हो जाते हैं तथा सब कर्मों का नाश हो जाता है। इस अवस्था को योग में 'असंप्रज्ञात समाधि', वेदान्त में 'ब्रह्मप्राप्ति', बौद्ध-दर्शन में 'निर्वाण' कहते हैं। इसी प्रकार पाश्चात्य दर्शन में भी स्पाइनोजा ब्रैडले, बर्गसन प्रभृति विद्वानों ने इस अवस्था का बड़ा मनोरंजक और विशद वर्णन किया है। जैनदर्शन में इस अवस्था का 'केवल ज्ञान' के नाम से संबोधन किया है। यह अवस्था केवल अनुभव-जन्य है, वाणी और मन का विषय नहीं है।"

काव्यात्मक निबन्ध में कथन की शैली कवित्वपूर्ण और चमत्कारमयी होती है; उसमें अलङ्कारों की छटा दिखायी पड़ती है तथा प्रयुक्त किये जाने वाले शब्दों में व्यञ्जनाशक्ति की विशेषता दृष्टिगोचर होती है। निम्नांकित अवतरण उदाहरण-स्वरूप है :—

"गोचारण के समय हृदय पर सामयिक ऋतु-परिवर्तन-जनित विकासों, तरुपल्लव के सौन्दर्यों, खग-कुल के कलित कल्लोलों, श्यामल तृणावरण शोभित आन्तों, कुसुमचय के मुग्धकर माधुर्य और वर्षाकालीन जलद-जाल का लावण्य देख कर मूर्खों के मुख से भी आमोद-सिक्त ऐसे वाक्य सुने जाते हैं जो स्वाभाविक होने पर भी हृदय हरण करते हैं।"

—अयोध्यासिंह उपाध्याय

× × × ×

"वे अभी ऐसी शक्ति तथा प्रकाश संगृहीत नहीं कर पाए हैं कि अपनी ही ज्योति में अपने लिये नियमित पंथ खोज सकें, जिससे हमारे ज्योतिषी उनकी गति-विधि पर निश्चित सिद्धान्त निर्धारित कर लें; ऐसी दशा में कहा नहीं जा सकता कि यह अस्त-व्यस्त केन्द्र-परिधिहीन द्रवित वाष्प पिण्ड निकट भविष्य में

किस स्वस्थ स्वरूप में घनीभूत होगा, कैसा आकार-प्रकार ग्रहण करेगा।"

—सुमित्रानन्दन पन्त

विवेचनात्मक निबन्ध में किसी विषय अथवा वस्तु के सम्बन्ध में विश्लेषण किया जाता है; लेखक मौलिक सिद्धान्तों का आधार लेकर प्रकाश में इष्ट वस्तु को देखता है और वह जैसी दिखाई पड़ती है उस रूप में उसे व्यक्त करता है। नीचे की पंक्तियों में इसका उदाहरण मिलेगा :—

"कवि का हृदय विश्व का प्रतिबिंब है और उसी प्रतिबिंब की अभिव्यंजना करने के लिये कवि अपने काव्य की सृष्टि करता है; उसी प्रतिबिंबित विश्व के आधार पर वह अपने प्रस्तुत अर्थात् वर्ण्य विषय का प्रतिपादन करता है। इस प्रस्तुत को अभिव्यंजित करने के लिये उसे अप्रस्तुत का आश्रय लेना पड़ता है, अर्थात् उसको इस बात का ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है कि वह प्रस्तुत के प्रति अनुभूति उत्पन्न कराने के लिये जिस अप्रस्तुत की योजना करे वह स्वाभाविक एवं हृदयस्पर्शी हो, साथ ही प्रस्तुत की ही भाँति भावोद्रेक में भी समर्थ हो। कवि का अप्रस्तुत जितना ही प्राकृतिक होगा उसका काव्य उतना ही रमणीय होगा। अप्रस्तुत के चुनाव की उत्तमता कल्पना की पहुँच पर निर्भर है। कवि अपनी कल्पना के बल से प्रस्तुत प्रसंग के मेल में अत्यन्त अनुरंजक अप्रस्तुत की योजना कर आत्माभि-व्यंजन में सफल होता है। कल्पना, वास्तव में, हमारे पूर्व-संचित अनुभवों के संमिश्रण से प्राप्त एक शक्ति है। जिन पदार्थों को हम एक बार देख चुके हैं अपनी स्मरणशक्ति के द्वारा हम अपने मन में उनका तद्रूप चित्र अंकित करने में समर्थ होते हैं। परन्तु हम अपने पूर्व-संचित अनुभवों के द्वारा अपनी रुचि के अनुसार उस चित्र में कुछ हेर-फेर करके उसे एक ऐसा नया रूप दे सकते

है जिसका बाह्य जगत् में कोई अस्तित्व नहीं है। बाह्य जगत् से पृथक् स्वतंत्र मानसिक सृष्टि का अनुभव कराने वाली शक्ति का ही नाम 'कल्पना' है। कवि या चित्रकार में कल्पना-शक्ति जितनी ही अधिक होती है उतना ही वह अधिक प्रतिभाशाली कहलाता है। प्रतिभावान् कवि अपने प्रस्तुत को अभिव्यक्त करने के लिये उसके योग में अपनी कल्पना के सहारे एक ऐसे अप्रस्तुत की सृष्टि करता है जो हमारे मन को मुग्ध एवं प्रभावित कर देता है।

"कल्पना के दो रूप होते हैं—एक अव्यक्त या आभ्यन्तर रूप, दूसरा व्यक्त या बाह्य रूप। पूर्व-संचित अनुभव के बल पर जब कवि अपने मन में नयी सृष्टि खड़ी कर देता है तब हम उसे अव्यक्त कल्पना कहते हैं। इस कल्पना के द्वारा कवि अपनी अन्तरात्मा में प्रवेश करता है, अपने अनुभवों और भावनाओं से प्रेरित होकर अपने प्रतिपाद्य विषय को खड़ा करने में समर्थ होता है और बाह्य जगत को भी अपने अंतःकरण में ले जाकर उसे अपने भावों से अनुरंजित करता है। परंतु जब तक इस कल्पना का स्वरूप अंतरात्मा से बाहर नहीं निकलता तब तक यह कल्पना अव्यक्त ही रहती है। जब कवि शब्द शक्ति के बल से अपने प्रतिपाद्य विषय की अभि-व्यंजना के लिये कल्पना को विधायक रूप दे देता है तब हम उसे व्यक्त कल्पना कहते हैं। काव्य में यही व्यक्त कल्पना दिखाई पड़ती है। आभ्यन्तर या अव्यक्त कल्पना के द्वारा नयी सृष्टि का निर्माण करके ही कविकर्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती। वास्तव में जब तक कवि अपने को सम्यक् प्रकार से अभिव्यक्त नहीं कर सकता तब तक वह कवि कहलाने का अधिकारी नहीं है। जो कवि आत्माभिव्यंजन में जितना ही सफल होता है वह उतना ही उत्कृष्ट समझा जाता है।" —मोहनवल्लभ पंत

निबन्धों का जो विभाजन किया गया है, वह पूर्ण नहीं है; और भी विस्तृत विभाग किया जा सकता है। किन्तु इस विभाजन को आगे बहुत दूर तक बढ़ाना आवश्यक नहीं है। वास्तव में सहायता तो हमें इस बात से मिलेगी कि हम इन अनेक विभागों को और भी सीमित करके दो व्यापक श्रेणियों में परिणत कर लें। उदाहरण के लिये, भावात्मक और विचारात्मक - इन दो विभागों में उक्त समस्त विभागों का सन्निवेश किया जा सकता है और तब इन दोनों से सम्बन्ध रखनेवाले निबन्धों के पेटे के विषय में कुछ सिद्धान्तों का निर्देश हो सकता है। काव्यात्मक आदि निबन्ध भावात्मक की श्रेणी में और विवेचनात्मक आदि निबन्धों को विचारात्मक की श्रेणी में लेकर आगे हम निबन्ध के पेटे के स्वरूप-निश्चय की ओर बढ़ सकेंगे।

भावात्मक निबन्ध में भाव प्रधान होता है। लेखक अपने हृदय के भाव को पाठक के हृदय में प्रविष्ट करना चाहता है। किसी दृश्य-विशेष अथवा घटना-विशेष ने उसे जिस रूप में प्रभावित किया है उसी रूप में वह पाठक को भी प्रभावित करना चाहता है। अपने को अथवा किसी अन्य व्यक्ति को आलम्बन बनाकर विविधि उद्दीपनों द्वारा वह पाठक के हृदय में अनुभूति का संचार करता है और अपने सम्पूर्ण प्रयत्न को उसी पथ से ले चलता है जिस पथ से रस-परिपाक का उद्देश्य रखने वाली रचना अग्रसर होती है। उदाहरण के लिये, लेखक को एक जीवन-चरित लिखना है। जीवन-चरित जन्म, शिक्षा, व्यवसाय और मृत्यु आदि का उल्लेख करके ही यदि समाप्त हो गया तो वह सफल जीवन-चरित नहीं है। जीवन के नायक ने अपने व्यक्तित्व-विकास के प्रयत्नों में कैसी बाधाओं को झेला, किस प्रकार चारों ओर से निरुत्साहता की तुषार-वर्षा के मध्य में अपने उत्साह की आग को जीवित रखा—इन सब बातों के वर्णन से

कभी पाठक के हृदय में निराशा का संचार होगा, कभी आशा का उदय होगा, कभी उत्कंठा बढ़ेगी, कभी उद्वेग बढ़ेगा, और जहाँ जीवन-चरित का नायक सब बाधाओं को पार कर सफलता-लाभ की ओर अग्रसर होगा वहाँ पाठक के हृदय में भी आनन्द का उद्रेक होगा। जिस भावात्मक निबन्ध को पढ़ने से हृदय में रस का स्रोत न प्रवाहित हो उसमें रचनातत्त्वों की कहीं पर न्यूनता समझनी चाहिये।

विचारात्मक निबन्ध का मार्ग भावात्मक निबन्ध के मार्ग से कुछ भिन्न होता है। जैसे भावात्मक निबन्ध भावना के विकास की ओर चलता है वैसे ही विचारात्मक निबन्ध वाद-विवाद द्वारा इष्ट सत्य की स्थापना की ओर गतिशील होता है। इस प्रकार के निबन्ध में उतनी ही सफलता मिलेगी जितनी उत्सुकता और तत्परता लेखक के हृदय में अभिमत सत्य के विरोधी तर्कों का वैज्ञानिक, न्याय-सम्मत विवेचनों द्वारा समाधान करने की होगी। उदाहरण के लिये, यदि कोई उर्दू काव्य का आलोचक यह लिखे कि यद्यपि हमने संसार की सभी भाषाओं के साहित्यों का अध्ययन नहीं किया है, तथापि हम बलपूर्वक कह सकते हैं कि संसार के सभी कवियों की अपेक्षा जौक का स्थान ऊँचा है, तो कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार की पंक्तियाँ हास्यजनक हैं।

निबन्ध के ढाँचे का अंतिम अंश निष्कर्ष कहा जाता है इसमें कोई विशेषता नहीं है। यदि निबन्ध का पेटा ठीक ढंग पर चल सका है और उसका अभीष्ट प्रभाव पाठक पर पड़ा है, तो निष्कर्ष की पंक्तियाँ सहज ही प्रभावशालिनी हो सकती हैं। किन्तु, यदि इसके विपरीत पेटे में भाव अथवा विचार के विकासक तत्वों में शिथिलता आ गई है तो निष्कर्ष में कुछ लिखना केवल

उपहासजनक होगा। हाँ, इस बात पर अवश्य ही ध्यान देना चाहिये कि निष्कर्ष भूमिका का ही उत्तर देता हुआ चले।

प्राचीन निबन्धों में भूमिका, पेटा और निष्कर्ष, तीनों का इस प्रकार मिश्रण हो जाया करता था कि विचारों के उत्थान-पतन का क्रम समझने में बहुत कठिनाई हुआ करती थी। भूमिका और निष्कर्ष में तो नहीं, किन्तु निबन्ध के पेटे में यह कठिनाई अखरती थी। सुविधान्वेषी मानव-मस्तिष्क ने शीघ्र ही अनुच्छेदों का विकास करके अपना मार्ग सरल बना लिया।

अनुच्छेद में एक विचार और आवश्यकतानुसार, एक ही लक्ष्य की ओर गमन करने वाले अनेक विचारों का समूह भी स्थान पा सकता है। लेखक को इस सम्बन्ध में अत्यन्त सावधान रहने की आवश्यकता है कि एक अनुच्छेद में समाविष्ट विचार-समूह विभिन्न उद्देश्यों की ओर गतिशील न हों; क्योंकि ऐसा होने से अनुच्छेद की सारी उपयोगिता ही नष्ट हो जायगी। डाक्टर बाबूराम सक्सेना के एक लेख के निम्नलिखित अनुच्छेद पर पाठक विचार करें, वे देखेंगे कि यह अनुच्छेद वास्तव में दो अनुच्छेदों में विभाजित किया जाना चाहिये था:—

"कुछ हिन्दी-प्रेमियों का विचार है कि सम्मेलन हिन्दी-साहित्यिकों की अवहेलना करता है। उनकी प्रतिष्ठा और मान-मर्यादा की रक्षा नहीं करता और उन्हें ठेल-ठेलकर सम्मेलन के बाहर फेंकता है। और दूसरी ओर सम्मेलन राजनीतिकों को आश्रय देता है, राजनीतिक नेताओं को मान प्रदान करता है और उन्हीं की उँगलियों पर नाचता है। 'वीणा' तो इतनी हताश हो गई है कि उसकी सलाह है कि सम्मेलन राजनीतिकों के सुपुर्द करके साहित्यिक उससे हाथ खींच लें। साहित्यिकों को अलग ही संगठन में लाने के कई प्रयत्न हो चुके हैं। कलाकार-श्रेष्ठ श्री निराला जी ने एक बार इसी आशय से कुछ उद्योग किया था,

किन्तु वह आगे नहीं बढ़ सका। श्री जैनेन्द्र-कुमार जी ने हिन्दी परिषद् की आयोजना की थी, किन्तु वह भी कुछ दिन चल कर बन्द हो गई। प्रयाग में कुछ उत्साही हिन्दी प्रेमियों ने भी साहित्यिकों का एक महत्त्वाकांक्षी संगठन बनाया था, पर वह भी अधिक उपयोगी सिद्ध न हुआ। साफ बात यह है कि कलाकार निरंकुश जीव है और वह किसी विशेष संगठन के बन्धन में नहीं पड़ना चाहता। उसका ध्येय, कर्तव्य, दैनिकचर्या है कला की सुन्दर कृतियाँ उपस्थित करना। उसको इसी से तृप्ति हो जाती है। उसे अधिक से सरोकार नहीं।"

अनुच्छेद के प्रथम वाक्य में जो बात कही जाय उसकी पुष्टि ही की ओर उसका शेषांश प्रयुक्त होना चाहिये। सम्मेलन द्वारा हिन्दी सहित्यिकों की अवहेलना-सम्बन्धी आक्षेप का निराकरण करनेवाले प्रमाणों ही का लेखक के इस अनुच्छेद में संग्रह करना चाहिये था; ऐसा न करके अनुच्छेद के उत्तरार्द्ध में उन्होंने विभिन्न संगठन-संचालन-सम्बन्धी उनकी अयोग्यता की कहानी कही है। इस असफलता से यह तो नहीं सिद्ध होता कि सम्मेलन हिन्दी सहित्यिकों की अवहेलना नहीं करता ?

निबन्ध के निर्मायक तत्वों के उल्लेख के अनन्तर उसकी अभिव्यक्ति के साधनों के सम्बन्ध में भी कुछ विचार करना आवश्यक है। हिन्दी का निबन्ध हिन्दी भाषा में होना चाहिये; लेकिन जहाँ हिन्दी भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में कोई निश्चय ही न हो, वहाँ अराजकता का होना, एक साथ ही अनेक शैलियों का प्रचलित होना, अनिवार्य है। कुछ उल्लेख-योग्य शैलियों की यहाँ चर्चा की जायगी।

(१) नीचे लिखे अवतरण संस्कृत तत्सम शब्द-विशिष्ट शैली के उदाहरण-स्वरूप हैं :—

"इस देश के नैतिक, धार्मिक, साहित्यिक आदि विषयों पर

यूरोपियन विद्वानों ने जो चर्चाएँ चलाई हैं, उन्हीं मतों पर इस देश के अधिकांश लेखक भी झुक पड़े हैं, और जितना ही इतिहास को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया जाता है, उतना ही वह और भी अन्धकार में जा पड़ता है। इसी स्थिति में हिन्दी के उद्गम और प्रसरण की चर्चा भी पहुँच चुकी है। भूमण्डल के सब से प्राचीन सभ्य देश की राष्ट्रभाषा के लिये यह कहना कि यह अमुक-अमुक भाषाओं के संसर्ग से प्रकटित हुई, उन्हीं विचारों के निचोड़ हैं, जो पराधीन जातियाँ अपना निजत्व और महत्व खोने पर प्रकट किया करती हैं। यूरोप सभ्यता, साहित्य आदि में अपनी प्राचीनता और श्रेष्ठता को सिद्ध करना चाहता है और इसकी सफलता के लिये भूमण्डल के आदि गुरु भारतवर्ष को अपनी संस्कृति, प्राचीनता आदि के अन्तर्गत खींच ले जाना चाहता है, किन्तु भला हो भगवान मनु जी का कि जिन्होंने भारतीय इतिहास के विषय में इस तत्व का ज़ोरों के साथ समझा दिया है कि—

"एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥"

—किशोरीलाल गोस्वामी

× × ×

"व्यक्तिगत रूप से, स्थूल बन्धनों के सम्बन्ध में मैं दो ही स्थितियों की कल्पना कर सकती हूँ—एक वह जिसमें यह बन्धन अपने से बहुत ऊँचे एक व्यापक बन्धन के सृजन-कार्य में बाधक बन जाते हैं और दूसरी वह जिसमें यह एक निम्न उच्छृङ्खलता को रोककर उसके ध्वंस को सीमित रखते हैं। दण्डविधान के अभाव में या तो वह स्थिति सम्भव है जिसमें मानवता का पूर्ण विकास हो गया हो, या वह जिसमें सब अपराध की स्वतंत्रता पा चुके हों।

"कला की बन्धनहीनता पहली स्थिति से सम्बन्ध रखती है, क्योंकि उसी दशा में वह अपने सत्य रूप में प्रतिष्ठित हो सकती है। प्रत्येक कला में एक सामञ्जस्यमूलक सूक्ष्मतम बन्धन तो रहेगा ही अन्यथा विषम उच्छृङ्खलता और सृजनरूपिणी कला में अन्तर ही क्या होगा? परन्तु यह बन्धन मुक्ति का बन्धन है।

"काव्यकला या किसी भी कला का ध्येय उसकी परिभाषा में छिपा है। उसे चाहे सत्-चित्-आनन्दमयी अभिव्यक्ति कहें, सत्यं-शिवंसुन्दरं की व्याख्या, दोनों ही दशाओं में सत तथा 'सत्य' और हमारे बीच में सबसे निकट की सीढ़ी 'आनन्द' और 'सुन्दर' ही है। इन दोनों शब्दों को अन्त में रखनेवाले मनीषी का हमें कृतज्ञ होना चाहिये, क्योंकि चिरन्तन मानवीय मनोविज्ञान का वह ज्ञाता था। बिना 'आनन्द' और 'सुन्दर' के हम 'चित' और 'शिवं' तक नहीं पहुँचते और बिना वहाँ तक पहुँचे न हमें सत् की अनुभूति होती है न सत्य की। इसी से हमारे ज्ञानक्षेत्र के ब्रह्म को भी सच्चिदानन्द की संज्ञा मिली है। साधारण जीवन में भी यह क्रम टूटता नहीं। पहले हमें किसी वस्तु की ओर आकृष्ट करने में उस वस्तु का रूप ही साधन बनेगा, फिर उसके सम्बन्ध में हमारा ज्ञानकोश बढ़ेगा और अन्त में हमें सत्य की उपलब्धि होगी।

"कवि या कलाकार सत्य को सौन्दर्यमय करके देता है। जो इस पहली सीढ़ी पर सँभल जाता है वह कलाकार बिना प्रयास के ही सत्य तक पहुँच सकता है परन्तु इस सोपान पर पैर फिसल जाने की भी बहुत सम्भावना रहती है।

"साधारणतः इस 'सुन्दरं' या सामञ्जस्य का बाह्य रूप हमारे उस बाह्य जीवन से सम्बन्ध रखता है जो युग-युग की विशेषताओं में ढलता रहता है परन्तु इसकी अन्तश्चेतना हमारे अन्तर्जगत् से मिली हुई है जो चिरन्तन होने के कारण ही

परिवर्तन का आधार बना हुआ है। इस प्रकार हमारे बाह्य और अन्तर्जगत् के समान कला का भी दोहरा रूप है। प्रत्येक युग का सच्चा कलाकार बदलते हुए प्रतीकों और शाश्वत सत्य का समन्वय करके ही कलात्मक सृष्टि करता है। न वह कला की चिरन्तन आत्मा को भूलता है और न उसके परिवर्तनशील रूप को इसी से एक युग के कवि और कलाकार आनेवाले युगों के लिये अपरिचित नहीं बन जाते।

"सौन्दर्य के द्वारा जीवन के सत्य की अभिव्यक्ति करनेवाली कलाओं में कविता का स्थान बहुत उन्नत है, परन्तु इसके भटक जाने की सम्भावना भी अधिक है। सौन्दर्य के भ्रम में वह उस निम्न उत्तेजक स्थूल को भी ले सकती है जो हमें आनन्दानुभूति न देकर वासनामूलक क्षणिक उत्तेजना देता है, और यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भावना में स्नान करके हमारा हृदय जितनी स्फूर्ति पाता है उत्तेजना से उतनी ही क्लान्ति। कविता की आनन्दानुभूति और उत्तेजक स्थूल के बीच में सीमारेखा बनाने के लिये समय-समय पर जो नियम बनते रहे हैं उन्होंने रूढ़िमात्र बनकर काव्य-कला के ध्येय को इतना अस्पष्ट कर दिया है कि आज हमें कविता की रक्षा के लिये न जाने कितने ढीले-तंग कवच गढ़ने पड़ रहे हैं।

"यह सत्य है कि कविता के ध्येय के सम्बन्ध में तर्क-वितर्क का बहुत अवकाश है, क्योंकि हम प्रायः उसकी अन्तश्चेतना और बाह्य रूप को एक ही मान लेते हैं और उसकी कसौटी एक तात्कालिक उपयोगिता मान बैठते हैं। वास्तव में जीवन का ध्येय जीवन का विकास है और इस विकास के लिये मनुष्य के मस्तिष्क तथा हृदय का, या दूसरे शब्दों में बुद्धि और भावना का परिष्कार आवश्यक है। मनुष्य का ज्ञान और चिन्तन बुद्धि का परिष्कार करता है; परन्तु अपनी भावना के परिष्कार के लिये

मनुष्य ने सदा कला का आश्रय लिया है। बालू के कण-कण जैसे जमकर शिला में परिवर्तित हो जाते हैं, वैसे ही हमारे बहुरूपी स्वार्थों के क्षण, हृदय पर एक ऐसी संकीर्णता की कठिन तह जमाते चलते हैं जो जीवन की संवेदन-शक्ति को निर्जीव किये बिना नहीं रहती। कला, और विशेष रूप से काव्यकला, ऐसा स्तर नहीं जमने देती। उसकी रसानुभूति में जितनी बार हमारा हृदय स्नान करता है उतनी ही बार वह एक नया जन्म-ग्रहण करता है।

"संभव है हमारा बुद्धिवादी युग इस पर विश्वास न करे, परन्तु इसे असत्य प्रमाणित करना कठिन होगा। वास्तव में जीवन का कोई भी निस्वार्थ स्नेह, सहानुभूति, बन्धुता आदि का आदान-प्रदान केवल तर्क के बल पर नहीं चल सकता, तर्क की कसौटी पर बहुत हल्के, पर जीवन के तुलाधार पर गुरुतम लगने-वाले, अनेक आत्म-त्याग और बलिदान हृदय की सहज संवेदन-शीलता से ही सम्भव हो सके हैं। इस संवेदनाशीलता को जीवित रखना और उसे नयी स्फूर्ति देना ही कविता की चरम परिणति है। चाहे वह जीवन की विषमता के प्रति हमें क्षुभित करे, चाहे सामञ्जस्य की आनन्दानुभूति दे, चाहे स्थूल की गहराई की ओर हमें सजग करे, चाहे अध्यात्म की व्यापकता का संवेदन दे, हर दशा में हमारे हृदय को छू लेना ही उसका अभीष्ट है।"

—महादेवी वर्मा

"इसी जनगण के जागरण की वाणी आज राष्ट्रपति पं० जवाहरलाल नेहरू अपने कम्बुकण्ठ से हमें सुना रहे हैं और उस वाणी को मुक्ति-पिपासु तरुण दल उसी प्रकार आग्रह के साथ पान कर रहा है, जिस प्रकार तृषित चातक स्वाति की वारि-धारा को।"

—जगन्नाथप्रसाद मिश्र

(२) अरबी फ़ारसी के तत्सम शब्द-विशिष्ट शैली के उदाहरण-स्वरूप निम्नलिखित अवतरण देखिए :—

"इस म्यूनिसिपैलिटी के चेयरमैन (जिसे अब कुछ लोग कुर्सीमैन भी कहने लगे हैं) श्रीमान बूचासाह हैं। बाप-दादों की कमाई का लाखों रुपया आपके घर भरा है। पढ़े-लिखे आप राम का नाम ही हैं। चेयरमैन आप सिर्फ इसलिए हुए हैं कि अपनी कारगुजारी गवर्नमेंट को दिखाकर आप रायबहादुर हो जायँ, लाट साहब से हाथ मिलाने का सौभाग्य आपको प्राप्त हो जाय, और खुशामदियों से आप आठ पहर चौसठ घड़ी घिरे रहें। म्यूनिसिपैलिटी का काम चाहे चले, चाहे न चले, आपकी बला से। इसके एक मेम्बर हैं बाबू बख्शिश राय। आप के साले साहब ने फी रुपया तीन चार पंसेरी का भूसा म्यूनिसिपैलिटी को देने का ठीका ले रक्खा है। आपका पिछला बिल १० हजार रुपयों का था। पर कूड़ा-गाड़ियों के बैलों और भैंसों के बदन पर सिवा हड्डी के मांस नजर नहीं आता। सफ़ाई के इन्सपेक्टर हैं लाला सतगुरु प्रसाद। आपकी इन्सपेक्टरी के जमाने में, हिसाब से कम तनख्वाह पाने के कारण, मेहतर लोग तीन दफे हड़ताल कर चुके हैं। नजूल जमीन के एक टुकड़े का नीलाम था। सेठ सर्वसुख उसके तीन हजार देते थे। पर उन्हें वह टुकड़ा न मिला। उसके छः महीने बाद म्यूनिसिपैलिटी के मेम्बर पंडित सत्यसर्वस्व के ससुर के साले के हाथ वही जमीन एक हजार पर बेच दी गई। किया क्या जाता? उस समय और किसी ने इससे जियादह दाम ही न लगाए। इस म्युनिसिपैलिटी की सीमा में दस मदरसे हैं। उनकी देख-भाल का काम एक मेम्बर साहब के सिपुर्द है। आपका शुभ नाम है—ठाकुर यंशपाल सिंह। एक बार एक बैठे-ठाले ने पता लगाया तो मालूम हुआ कि कुल ३० मुदर्रिसों

में से २९ मुदर्रिस ठाकुर साहब के रिश्तेदार निकले—कुछ मातृ-पक्ष के, कुछ पितृ-पक्ष के।

"इस दशा में भी यदि म्युनिसिपैलिटियों का काम सुचारु रूप से चल जाय तो समझना चाहिए कि सूर्य शीतल हो गया और चन्द्रमा आग उगलने लगा। यह हाल सभी म्युनिसिपैलिटियों का नहीं, गनीमत इतनी ही है।"

—महावीरप्रसाद द्विवेदी

× × × ×

"दिल्ली को तबाह हालत में छोड़कर शायर लोग लखनऊ पहुँचे। वहाँ भी बुतपरस्ती ने रंग पकड़ा। कितने ही मर्द मैदां थे, नीमजान हो गए। कितने ही भले चंगे थे, बिसमिल बनकर तड़पने लगे। कितने ही सुशील और विनयी थे, शब्दों के पीछे-मरने मारने को तैयार हो गए। नवाब के दरबार में दिनरात आशिक-माशूकों के मामले फैसल होने लगे। नवाब लोग राज्य-प्रबन्ध छोड़कर काफिया और रदीफ सोचने लगे। परिणाम यह हुआ कि लखनऊ की नवाबी भी जाती रही। कैसा विचित्र बात है कि मुसलमानों ने हिन्दुस्तान में बुतों को तोड़कर अपनी हुकूमत कायम की थी; पर बुतों ने भी ऐसा बदला लिया कि सदा के लिये उनकी कमर तोड़ दी।"

—रामनरेश त्रिपाठी

× × × ×

"शबनम एक सफल वेश्या थी, और इसी लिये हुस्न के दीवाने उसके यहाँ इस तरह अक्सर आते ही रहते थे। लेकिन जो लोग शरीफ कहलाते हैं और ज़ाहिरा तौर पर अजहद अमीरत दिखलाते हैं, उनमें भी अब तक इस दरजे का कोई आशिक उसके यहाँ नहीं आया था।" —भगवतीप्रसाद वाजपेयी

× × × ×

"उसके सिर और दाढ़ी के बाल बेतरह बढ़े हुए थे, जिन्होंने चारों ओर से उसकी बड़ी बड़ी, किन्तु परेशान आँखों को घेर लिया था, जिनकी चमक से किसी गौर से देखने वाले के हृदय में एक शुद्ध कम्पन के साथ किंचित् दर्द स्वयमेव पैदा होता।"

—प्रतापनारायण श्रीवास्तव

अँगरेजी तत्सम शब्द-विशिष्ट शैली का भी प्रचार हो रहा है। निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए :—

"इसी साल मैंने सेकेंड क्लास में आई० ए० पास करके विद्यालय में बी० ए० ज्वाइन किया था। युनिवर्सिटी में आते ही मेरी शोहरत हो गई। रेस्टराँ में, होस्टल के कमरे में, फील्ड में अक्सर मेरी ही चर्चा छिड़ी रहती।"

× × × ×

"मिस्टर पदुमकान्त लखनऊ क्रिश्चियन कालेज में आई० एस-सी० सेकंड इयर के विद्यार्थी हैं। बेयर होस्टल में रहते हैं। × × साइंस साइड ज्वाइन किये हुए हैं तो क्या, आपको उर्दू शायरी का अजहद शौक है।"

—'सुधा'

अरबी, फारसी और अँगरेजी के प्रचलित शब्दों के प्रयोग का समर्थन जितनी ही दृढ़ता से किया जाता है उतनी ही दृढ़ता से इन भाषाओं के अप्रचलित शब्दों का त्याग भी किया जाना चाहिए। आवश्यकता पड़ने पर अन्य भाषाओं के तत्सम शब्दों की अपेक्षा संस्कृत के शब्द ही व्यवहार और स्वीकार-योग्य हैं।

जो सज्जन हिन्दी में लिखना चाहें उन्हें भाषा के स्वरूप की ओर भी ध्यान देना चाहिये। इस सम्बन्ध में श्री धीरेन्द्र वर्मा के निम्नलिखित कथन पर उन्हें दृष्टि रखनी चाहिए :—

"हिन्दी के क्षेत्र में कार्य करने वालों के पथप्रदर्शन के लिये यह नितांत आवश्यक है कि हम और आप स्पष्टरूप में समझ रहें कि

आखिर किस हिन्दी के लिये हम और आप अपना तन मन धन लगा रहे हैं। हिन्दी-भाषा की यह परिभाषा निम्नलिखित है—व्यापक अर्थ में हिन्दी उस भाषा का नाम है जो अनेक बोलियों के रूप में आर्यावर्त्त के मध्यदेश अर्थात् वर्त्तमान हिन्द प्रान्त (संयुक्त प्रान्त), महाकोशल, राजस्थान, मध्यभारत, बिहार, दिल्ली तथा पूर्वी पंजाब प्रदेश की मूलजनता की मातृ-भाषा है। इन प्रदेशों के प्रवासी भाई भारत के अन्य प्रान्तों तथा विदेशों में भी आपस में अपनी मातृभाषा का प्रयोग करते हैं। हिन्दी भाषा का आधुनिक-प्रचलित साहित्यिक रूप खड़ी बोली हिन्दी है जो मध्यदेश की पढ़ी लिखी मूल जनता की शिक्षा, पत्र-व्यवहार तथा पठन-पाठन आदि की भाषा है और साधारण देव-नागरी लिपि में लिखी व छापी जाती है। भारतवर्ष की अन्य प्रांतीय भाषाओं के समान खड़ीबोली हिन्दी तथा हिन्दी की लगभग समस्त बोलियों के व्याकरण, शब्दसमूह, लिपि तथा साहित्यिक आदर्श आदि का प्रधान आधार भारत की प्राचीन संस्कृति है, जो संस्कृत, पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश आदि के रूप में सुरक्षित है। ब्रजभाषा, अवधी, मैथिली, मारवाड़ी, गढ़वाली, उर्दू आदि हिन्दी के ही प्रादेशिक अथवा वर्गीय रूप हैं।

"यद्यपि हिन्दी की प्रादेशिक तथा वर्गीय बोलियों में आपस में कुछ विभिन्नता है, किन्तु आधुनिक समय में लगभग इन समस्त बोलियों के बोलनेवालों ने हिन्दी के खड़ीबोली रूप को साहित्यिक माध्यम के रूप में चुन लिया है और इसी साहित्यिक खड़ीबोली हिन्दी के द्वारा आज हमारे कवि, लेखक, पत्रकार, व्याख्याता आदि अपने-अपने विचार प्रकट कर रहे हैं। कभी-कभी मुझे यह उलाहना सुनने को मिलता है कि हिन्दी-भाषा का रूप इतना अस्थिर है कि हिन्दी-भाषा किसे कहा जाय यह समझ में नहीं आता। मेरा उत्तर है कि यह एक भ्रममात्र है। साहित्यिक

दृष्टि से यदि आप आधुनिक हिन्दी के रूप को समझना चाहते हैं तो 'कामायनी' 'साकेत' 'प्रियप्रवास' 'रंगभूमि' 'गढ़कुंडार' आदि किसी भी आधुनिक साहित्यिक कृति को उठा लें। व्यक्तिगत रुचि तथा शैली के कारण छोटी-छोटी विशेषताओं का रहना तो स्वाभाविक है, किन्तु यों आप इन सब में समान रूप से एक ऐसी विकसित, सुसंस्कृत तथा टकसाली भाषा पावेंगे कि जिसके व्याकरण, शब्दसमूह, लिपि तथा साहित्यिक आदर्शों में आपको कोई प्रधान भेद नहीं मिलेगा। यह साहित्यिक हिन्दी प्राचीन भारत की संस्कृत, पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश आदि भाषाओं की उत्तराधिकारिणी है और कम से कम अभी तक तो भारतीय भाषाओं के क्षेत्र में अपने ऐतिहासिक प्रतिनिधित्व को कायम रक्खे हुए है।"

हमारी समझ में हिन्दी का प्रकृत स्वरूप ऐसा होना चाहिये जिसमें नवीन विचारों की अभिव्यक्ति के लिये अथवा गहन विषयों की व्याख्या के लिये, आवश्यक होने पर, हम संस्कृत के तत्सम शब्दों को व्यवहार में लावें, साथ ही जहाँ अनिवार्यता और स्थल-संकीर्णता न हो वहाँ संस्कृत, अरबी, फारसी, अँगरेजी आदि के उन तत्सम शब्दों का भी हम प्रयोग करें जो प्रचलित और सुबोध हैं। इस सम्बन्ध में हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि अधिकांश में हिन्दी-भाषी ग्रामों और नगरों में हिन्दी बोलने वालों की जिह्वा पर चलनेवाले तद्भव शब्दों के प्रयोग द्वारा ही हम हिन्दी भाषा के व्यक्तित्व की रक्षा कर सकेंगे। इस प्रकार की भाषा के कतिपय उदाहरण नीचे देखिए :—

"आज जज साहेब के इजलास में मेरा मुकदमा तजबीज-सानी के लिये पेश होगा। वकील साहेब की फीस देनी है, अभी उसका कोई इन्तजाम नहीं हो सका है। संयोग की बात देखिए, टेसन पर पहुँचते-पहुँचते रेलगाड़ी छूट गई। बड़ी चिन्ता हुई कि

कैसे समय पर पहुँच सकूँगा। सन्ध्या-गायत्री सब भूल गई, भोजन की भी सुधि नहीं रह गई। एक तेज इक्केवाले को मुँह माँगा किराया देने के लिये तैयार होकर इक्के पर बैठा और रवाना हो गया।"

—अज्ञात

× × × ×

"ऐसी स्थिति में हम किसानों से जोरदार शब्दों में यह निवेदन करते हैं कि वे भ्रम में पड़कर या बहकावे में आकर अपने लगान की अदायगी न रोकें। बकाया लगान का जो बोझ उन पर लदा हुआ था वह इस समय हटा हुआ है, अतः हाल का लगान अदा करने में उन्हें देर न करना चाहिये। उन्हें साफ-साफ समझ लेना चाहिये कि लगान की अदायगी रोककर वे आप अपने पैर में कुल्हाड़ी मार रहे हैं। जो कानून बनाने वाला है उसमें हीनहयाती काश्तकारों को मौरूसी हक मिल सकता है। पर इस परिवर्तन से किसान तभी लाभ उठा सकेंगे जब वह खेत उनके ही कब्जे में रह पावे, जिसपर वे आज काबिज़ हैं। समझने की बात है कि किसान यदि लगान अदा न करेंगे तो वे उन खेतों पर काबिज़ कैसे रह सकेंगे?"

—'आज'

"आलोचना के भीतर प्रेम नहीं तो वह आलोचना वन्ध्या है। × × जो आलोचक है उसे तो अपने मैल को पीछे ही रोक लेना चाहिए और अपने आलोचना के काम में कर्तव्यगत प्रेम को ही सामने रखना चाहिये।

"कर्त्तव्यगत प्रेम, यानी लाड़वाला प्रेम नहीं। वह प्रेम निठुर इतना हो सकता है कि निठुराई भी सहम जाय। मुझे जान पड़ता है कि सौ फीसदी निर्भयता प्रेम के रास्ते ही पायी जा सकती है; द्वेष के बल पर काफी दृढ़ नहीं हुआ जा सकता।

आलोचना वही अत्यन्त दृढ़ और अत्यंत भावुकताहीन हो सकेगी जो सप्रेम कर्त्तव्यशील विवेक में से निकलेगी।"

—जैनेन्द्रकुमार

× × ×

"हमीं लोगों में ऐसे लोग हैं जो यह जानते ही नहीं कि हम क्या और कौन थे और अब क्या हो गए। इसमें न किसी का जादू काम कर रहा है और न किसी का टोना, न दैव हमारे पीछे पड़ा है, न बुरा भाग। जो कुछ हम भोग रहे हैं वे हमारी करतूतों के फल हैं, और आज भी वे हमें रसातल ले जा रही हैं। आज दिन हमारे सिरधरों का ही सिर नहीं फिर गया है, आगे चलनेवाले भी आग लगा रहे हैं, और भगवा पहननेवाले भी भाँग खाये बैठे हैं। जिनको वीर होने का दावा है, वे भाइयों की मूँछें उखाड़कर मूँछें मरोड़ रहे हैं, दूसरों का घर मूस कर अपना घर भर रहे हैं, औरों के लहू से हाथ रँग कर अपना हाथ गरम कर रहे हैं, और बेबसों के घर को जलाकर अपने घर में घी के दीये बाल रहे हैं।"

—अयोध्यासिंह उपाध्याय

जिन शैलियों की चर्चा ऊपर की गई है उनमें से उक्त शैली ही ऐसी है जो समस्त शैलियों पर विजय प्राप्त करेगी और भविष्य की राष्ट्रभाषा तथा साहित्य-भाषा के रूप में प्रमुख स्थान प्राप्त करेगी। राजनीतिक क्षेत्रों से प्राय: यह शिकायत आती है कि हिन्दी-लेखकों का एक प्रभावशाली दल संस्कृत शब्दों का बेहद प्रयोग करके भाषा को दुरूह बनाता जा रहा है। यदि आलोचकगण यह स्वीकार कर लें कि हिन्दी के लेखकगण कुछ विषयों लेखनी चलाते समय आवश्यक विचारों को व्यक्त करने के लिये संस्कृत शब्दों से सहायता लेने को विवश हैं, और प्राय:

जान-बूझकर तथा हठपूर्वक ऐसा नहीं करते, तो, उनकी आलोचना के प्रभाव में अधिक बल आ सकता है। यहाँ यह भी स्पष्ट रूप से कह देने की आवश्यकता है कि स्वयं राजनैतिक क्षेत्रों में जिस भाषा का प्रयोग किया जा रहा है वह ठीक वैसी नहीं है जैसी होनी चाहिये। निस्सन्देह उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का बहिष्कार किया जाता है, किन्तु साथ ही अरबी-फारसी के तत्सम शब्दों को उसमें भरने की चेष्टा भी की जाती है। कहावत है,"गए थे नमाज को रोजा गले पड़ा"; भाषा को सरल बनाने की उमंग में संस्कृत शब्दों से नाता तोड़ा गया, लेकिन उनकी जगह अरबी और फारसी के अधिक जटिल, दुर्बोध शब्दों को दे दी गई।

काल के जिस हुङ्कार से आज परिवर्त्तन नवीन सन्देश लेकर अग्रसर हो रहा है, उसमें व्यक्ति का उत्थान निहित है। जैसे भारतीय व्यक्ति पद-दलित रहा है वैसे ही उसकी भाषा भी पद-दलित रही है। यदि भारतीय व्यक्ति का उत्थान होगा तो उसकी भाषा का भी निश्चय रूप से उत्थान होगा। यह भारतीय व्यक्ति कौन है ? इसकी भाषा कौन है ? असंदिग्ध रूप से वह भारत के देहातों में निवास करता है, संस्कृत भाषा से प्राप्त उसका शब्द-भाण्डार ऐसा अवश्य है कि वह तुलसीकृत रामचरितमानस के अधिकांश स्थलों का मर्म ग्रहण कर ले। वह अदालतों में भी जाता है, पटवारी के यहाँ भी वह पहुँचता है, थानेदार के यहाँ भी वह दिखाई पड़ता है। इन सब जगहों से भी उसे कुछ शब्द प्राप्त हो गए हैं, और उसने उन्हें भी अपना मित्र बना लिया है; ये शब्द कुछ तो अरबी-फारसी के हैं और कुछ अँगरेजी के। निस्संदेह वह इन शब्दों को अपनी जिह्वा से हटाने को तैयार नहीं। लेकिन उसकी दैनिक बोल चाल में इन शब्दों का कितना अंश है, इसके सम्बन्ध में हमें सावधान रहने की आवश्यकता है; संस्कृत से प्राप्त उसके शब्द-भाण्डार का अधिकांश, लगभग तीन-चौथाई,

उसे किसी भी शिक्षा की सहायता के बिना ही, पूर्वजों से उत्तराधिकार के रूप में मिला है। इस "तीन चौथाई के लगभग" पर से संस्कृत का अधिकार हटाकर जो लोग अरबी-फारसी का अधिकार स्थापित करते और समझौते के रूप में "शेष एक चौथाई" पर संस्कृत का व्यापारिक कमीशन-सा नियत करना चाहते हैं वे लोगों की आँखों में धूल झोंककर अपना सम्प्रदाय चलाने की चिन्ता में हैं; मानव-समाज का उत्पीड़न बन्द करना उनका लक्ष्य नहीं है।

जो अवतरण पाठकों की सेवा में यहाँ उपस्थित किये गए हैं उन पर एक दृष्टि डालने पर उन्हें यह स्पष्ट हो जायगा कि हिन्दी भाषा का जो स्वरूप हमारे सामयिक पत्रों और गम्भीर ग्रंथों तक में प्रकट हो रहा है वह सर्वथा असंगठित है; कहीं 'संस्कृत' प्रवृत्ति का उचित से अधिक जोर है, कहीं अरबी-फारसी-प्रवृत्ति का अनावश्यक प्राबल्य है। और यद्यपि बहुत काफी गम्भीरता के साथ विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करनेवाले विद्वान् आपस में बहस कर रहे हैं, तथापि सत्य से वे बहुत दूर हैं – वह सत्य जिस पर तभी उनका अधिकार हो सकेगा जब वे अपने व्यक्तिगत वर्गगत आदि स्वार्थों को त्याग कर हिन्दी भाषा-भाषी जनता के अधिकांश के हित-साधन को अपना उद्देश्य बनायेंगे।

हमारी प्रकृत हिन्दी भाषा में 'विविक्त', 'दुरत्यया', 'जीमूताच्छन्न', 'तृणावरण', 'कुसुमचय' [प्रथम शैली], 'पशेमान' 'नीमजान', 'बुतपरस्ती' 'अजदह', 'जानिब' [द्वितीय और तृतीय शैली], 'ब्वाइन' 'रेस्टराँ', 'फील्ड', 'जेनरल डेबिलिटी, 'साउंड', 'लास आव् इनर्जी', आदि शब्दों के प्रयोग के लिए अवकाश नहीं हो सकता। तद्भव शैली में पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय लिखित जो अवतरण दिया गया है उसमें एक ओर संस्कृत शब्दों से और दूसरी ओर अरबी-फारसी शब्दों से बचने

की कोशिश दिखायी पड़ती है, साथ ही मुहावरों का प्रयोग जान-बूझकर अधिक संख्या में करके काम निकाला गया है; यह सुविधा सर्वत्र नहीं प्राप्त हो सकती। अतएव इस शैली का प्रचलित होना कठिन है। हिन्दी की प्रकृत गद्य शैली में संस्कृत तत्सम शब्दों के प्रयोग से बचने की, निस्सन्देह, कोई गुञ्जाइश नहीं है। जिन तत्सम संस्कृत शब्दों को अपढ़ हिन्दी-भाषी भी समझ सकता है उनसे हम परहेज क्यों करें ? साथ ही प्रचलित अँगरेजी, अरबी-फारसी शब्दों से बचने की भी कोई कोशिश नहीं करनी चाहिये 'जज' 'इजलास', 'मुकदमा', तजवीजसानी', 'वकील', 'जोरदार', 'बकाया', साफ-साफ', 'कब्जा', 'काबिज' आदि शब्दों का बेधड़क प्रयोग किया जाना चाहिये। इन शब्दों पर जो हिन्दी रङ्ग चढ़ा हुआ है, उसकी रक्षा होनी चाहिये।

'साहित्यिक हिन्दी', 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी', 'हिन्दी याने हिन्दुस्तानी', उर्दू, आदि के झगड़ों में पड़ने की हमें जरूरत नहीं। हिन्दी-भाषा-भाषी समाज के अधिक से अधिक अंश के काम में आनेवाली प्रकृत भाषा का जो स्वरूप क्रमशः निश्चित होगा वह हमारी भाषा के उक्त अधिकांश स्वरूपों से अल्पाधिक मात्रा में भिन्न होगा, और असंदिग्ध रूप से इस प्रकृत भाषा का नाम हिन्दी होगा।

निबन्ध की जिन विशेषताओं का ऊपर उल्लेख किया गया है उनका समावेश होने पर भी विराम-चिन्हों के साधु प्रयोग के अभाव में वह उसी प्रकार अशोभन दिखाई पड़ेगा जैसे वह सभ्य पुरुष, जिसकी वेषभूषा तो उचित हो, किन्तु जिसकी आवाज के उतार-चढ़ाव में हास्यजनक असंगति हो। अतः इस सम्बन्ध में भी पाठकों का ध्यान आकर्षित करने की आवश्यकता है।

हिन्दी में विराम-चिन्हों के प्रयोग का इतिहास अभी नया ही है। इस सम्बन्ध में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ही पहले लेखक

हैं, जिन्होंने उचित उद्योग किया। पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकों के प्रकाशन की वृद्धि के साथ-साथ ज्यों-ज्यों हिन्दी गद्य का विकास होता चल रहा है त्यों-त्यों विराम-चिन्हों के प्रयोग की ओर भी लेखकों का ध्यान बढ़ता जा रहा है। फिर भी यही कहना चाहिये कि विराम-चिन्हों को, जैसा चाहिये वैसा, हिन्दी-लेखकों ने अभी नहीं अपनाया है।

संस्कृत में वाक्य के अन्त में विराम-सूचक दो खड़ी पाई लगा देने की प्रथा का अनुकरण करते हुए प्राचीन हिन्दी लेखक भी केवल एक यही विराम-चिन्ह जानते थे और इसी का प्रयोग करते थे। किन्तु वर्तमान काल में निम्नलिखित विराम-चिन्हों का विकास हो गया है :—

चिन्ह	नाम
,	अल्पविराम
;	अर्द्ध विराम
:	विशेष विराम
—	आदेशक
"	उद्धरण
।	पूर्ण विराम
?	प्रश्नवाचक
!	विस्मय-संबोधन-आश्चर्य चिन्ह
( )	कोष्ठक
:—	निम्नलिखित का चिन्ह
.	संकीर्णता-सूचक
* × † ‡ ‖	टिप्पणी-सूचक

इन चिन्हों में से प्रत्येक के सम्बन्ध में हम यहाँ थोड़ा-सा विचार करेंगे।

पाठक देखेंगे कि ऊपर बारह चिन्हों का उल्लेख किया गया है; इनमें से (१) उद्धरण, (२) पूर्ण विराम, (३) प्रश्नवाचक, (४) विस्मयादिबोधक, (५) कोष्ठक, (६) निम्नलिखित का चिह्न, (७) संकीर्णता-सूचक और टिप्पणी-सूचक चिह्नों का प्रयोग सहज ही समझा जा सकता है। वास्तव में विशेष सावधानी की आवश्यकता केवल तीन के सम्बन्ध में है, और वे हैं--(१) अल्प-विराम, (२) अर्द्धविराम, (३) आदेशक तथा विशेष विराम का चिन्ह; सो उसके सम्बन्ध में एक बहुत बड़ी कठिनाई यह है कि वह हिन्दी में विसर्ग का भ्रम उत्पन्न कर सकता है; इसके अति-रिक्त इस चिन्ह का प्रयोग आज अँगरेजी में भी कम होता जा रहा है।

अल्पविराम का प्रयोग तो हिन्दी में अब खूब चल पड़ा है, किन्तु उसके सम्बन्ध में अभी हम प्रायः केवल इसी नियम को काम में लाते हैं कि वाक्य में जहाँ कुछ ठहरने की आवश्यकता व्यक्त करनी हो वहाँ यह व्यवहार में लाया जावे। इस नियम ने प्रायः अल्पविराम और अर्द्धविराम का भेद ही मिटा दिया है। ऐसी अवस्था में हमें किसी ऐसे सिद्धान्त की खोज करनी चाहिये जो अल्पविराम और अर्द्धविराम को अधिक संगत आधार पर स्थित कर सके।

अल्पविराम, अर्द्धविराम, और पूर्णविराम तीनों में से अर्द्ध-विराम ही को इस उपेक्षा का अधिक भय रहता है, वास्तव में अल्पविराम और पूर्णविराम के बीच में पड़कर अर्द्धविराम उसी तरह पिसता रहता है जैसे लोहे और पत्थर के बीच में पड़कर रुई। इस कठिनाई के निराकरण के लिये भी यह आवश्यक है कि अल्पविराम, अर्द्धविराम और पूर्णविराम के पारस्परिक सूक्ष्म अन्तर को हम समझें तथा किसी सिद्धान्त पर पहुँचे।

अल्पविराम और अर्द्धविराम के प्रयोग के सम्बन्ध में हमें

यह मोटी सी बात स्मरण रखनी चाहिये कि संकीर्ण वाक्यों में प्रधान और अधीन वाक्यों का सम्बन्ध व्यक्त करने के लिये जहाँ विराम-चिन्हों के प्रयोग की आवश्यकता पड़ेगी वहाँ अल्पविराम, और मिश्र वाक्यों में जहाँ दो स्वतन्त्र वाक्यों का सम्बन्ध प्रकट करने की आवश्यकता हो वहाँ अर्द्ध विराम का प्रयोग होना चाहिये। उदाहरण के लिये निम्नलिखित वाक्य को देखिए :—

"अपने द्वारा पहचाना और स्वीकार किया हुआ हमारा जो भी महत् उद्देश्य है, जीवन का यथार्थ सुख हम उसकी पूर्ति में ही देखें और अपने आपको व्यय कर डालें।—यहाँ तक कि कर्दम की राशि में फेंके जाने से पूर्व तक, पूर्ण रूप से, अपने को एक बार खपा दें।"

इस वाक्य में जहाँ अल्पविराम का प्रयोग किया गया है, उसके उत्तर में प्रधान और पूर्व में अधीन वाक्य है। यहाँ तक तो ठीक है; किन्तु वाक्य के अन्त में जहाँ पूर्ण विराम और आदेशक का प्रयोग किया गया है वहाँ वास्तव में अर्द्ध विराम ही का प्रयोग होना चाहिये था।

अधीनता-संस्थापक संयोजक शब्दों अथवा सम्बन्ध-सूचक सर्वनामों द्वारा प्रधान वाक्य के साथ संयुक्त होकर अधीन वाक्य (१) सारसूचक; (२) विशेषक और (३) क्रियाविशेषक पदों के रूप में उसकी सेवा करता है। निम्नलिखित अवतरणों में इसके उदाहरण देखिए :

(१) "पण्डित जी ने लिखा है, 'पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव से अपनी अनमोल विभूतियों पर अश्रद्धा बल्कि घृणा होने के कारण इस देश के शिक्षित कहे जाने वाले लोग भी उनसे (उपनिषद् आदि प्राचीन संस्कृत साहित्य से) मिलने वाले लाभों से वंचित रह जाते हैं।"

(२) "जो साहित्यिक बंधु केवल लेखन पर आधारित हैं,

स्पष्ट है कि वे अवसर, संयोग और अवलम्ब पाने के अधिकारी उनसे पहले हैं, जो सौभाग्य से या तो सम्पन्न हैं या प्रोफेसर; और महीने में दो सौ से लेकर छै सौ रुपये तक पाया करते हैं।"

(३) "हिन्दी साहित्य सम्मेलन के बल और प्रभाव की वृद्धि के साथ साथ यदि हिन्दी ग्रन्थादि प्रकाशकों की रजिस्ट्री की व्यवस्था की जावे तो उनकी उक्त कमियों और त्रुटियों का निवारण हो सकता है।"

उक्त तीनों अवतरणों में से पहला अवतरण सारसूचक अधीन वाक्य का, दूसरा विशेषक अधीन वाक्य का और तीसरा क्रियाविशेषक अधीन वाक्य का उदाहरण है।

संकीर्ण वाक्य में सारसूचक अधीन वाक्य का स्थान प्राय: वैसा ही होता है जैसा कर्मकारक का। वाक्य में कर्ता क्रिया और कर्म का ऐसा सम्बन्ध है कि इनमें से किसी के पहले अथवा किसी के बाद अल्पविराम का प्रयोग करने की कोई आवश्यकता नहीं। ऐसी अवस्था में निम्नलिखित वाक्यों में अल्पविराम का जहाँ प्रयोग किया गया है वहाँ वह न होना चाहिये था :—

"अवशिष्ट हिन्दी ग्रन्थादि प्रकाशक साधारणतः इस अनुभव का लक्षण अभी तक नहीं दिखला सके हैं, कि उनका स्वार्थ ही हिन्दी साहित्य के सेवकों का भी स्वार्थ है, उनका स्वार्थ ही हिन्दी साहित्य के रसिकों, अनुरागियों और अधिकारियों का भी स्वार्थ है तथा इसलिए उनका स्वार्थ ही वास्तव में हिन्दी साहित्य का भी स्वार्थ है। इस महत्त्वपूर्ण अनुभव के न रहने से ही उनमें से कोई-कोई इतनी पूँजी भी नहीं रखते, कि कम से कम जितनी के बिना किसी भी पद्धति के अनुसार वह व्यापार नहीं चलाया जा सकता। कोई-कोई सहृदयता से यह नहीं विचार सकते, कि साहित्य-सेवियों के कितने परिश्रम से कैसे ग्रन्थादि प्रस्तुत होते हैं और उनका उचित पारिश्रमिक देना तो दूर की बात है, बर्ताव

और वाक्य से भाव भङ्ग तक करके भी नहीं पछताते, कोई-कोई सुन्दर मुद्रण आदि की महिमा नहीं जानते, कोई-कोई प्रचार के सदुपायों से प्रायः अनभिज्ञ हैं और कोई-कोई इन सभी त्रुटियों के आधार हैं।"

स्थानाभाव से अल्पविराम के सम्बन्ध में यहाँ अधिक लिखना सम्भव नहीं है।

अर्द्धविराम के सम्बन्ध में हम ऊपर लिख चुके हैं कि एक ओर तो अल्पविराम उसके अधिकार का हरण करता है और दूसरी ओर पूर्णविराम उसे स्थान-च्युत करना चाहता है। पहले ऐसे प्रयोग देखिए जहाँ अल्पविराम अनुचित रूप से काम में लाया गया है।

"तुलसीदास संसार को मानस-जैसा अमर ग्रन्थ प्रदान कर सके, किन्तु एक भावना के पीछे उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन खपा दिया, यही उनकी साधना थी।"

इस वाक्य में दोनों ही अल्पविरामों के स्थान पर अर्द्धविराम प्रयोग होना चहिये था।

निम्नलिखित वाक्यों में अर्द्धविराम का स्थान पूर्णविराम ने ग्रहण कर लिया है:—

"आज हम केवल राजनीतिक दासता के बन्धन से ही जकड़े हों, ऐसी बात नहीं है। इससे भी भयंकर बन्धन हमारे अपने तैयार किये हुए हैं, जो भीतर के भी हैं, बाहर के भी। हमें उन सब से मुक्त होना है। अपनी इस मुक्ति के लिये हमें उपयुक्त तीर्थस्थान खोज निकालना होगा।"

उक्त अवतरण में पूर्णविराम का तीन बार प्रयोग हुआ है। प्रत्येक अनुच्छेद में विचार वर्गीकरण सिद्धान्तानुसार हमें उन स्वतंत्र वाक्यों को अर्द्धविराम द्वारा संयुक्त कर देना चाहिये जो एक विचार-धारा को पुष्ट करते हैं। उक्त स्वतंत्र वाक्य इसी ढङ्ग

के हैं, यह पाठक को एक साधारण दृष्टिपात के अनन्तर ही ज्ञात हो जायगा। ऐसी अवस्था में स्पष्ट है कि इन स्थानों में पूर्ण-विराम की जगह अर्द्धविराम को मिलनी चाहिये।

अल्पविराम और अर्द्धविराम के सम्बन्ध में उक्त निवेदन के अनन्तर आदेशक ही के सम्बन्ध में कुछ कहना शेष रह आता है। आदेशक के प्रयोग का नियम यह है कि उसके पूर्व लिखे गये किसी पद का समानार्थवाची कोई शब्दसमूह अथवा उसका स्पष्टीकरण आदि आदेशक के आगे लिखा जा सकता है; किन्तु उक्त स्पष्टीकरण को सरल और सुन्दर बनाने के लिये आदेशक के पूर्ववर्ती तथा परवर्ती शब्द-समूह में व्याकरणगत साम्य अथवा समतुलन होना चाहिये।

निम्नलिखित अवतरण में आदेशक का उचित प्रयोग देखिये:—

"प्रश्न यह है कि कविता-कला को जीवनोपयोगिता की कसौटी पर कसा जाय या नहीं? काव्य या छन्द के नियमों—रूढ़ियों—को आप मानें या न मानें, इसकी मैं इतनी परवा नहीं करता। 'रबड़' न, 'केंचुआ' या इससे भी खराब नाम से पुकारे जानेवाले छन्द, तर्ज वगैरा लावें इससे मैं नहीं घबड़ाता। पर मैं पूछता हूँ कि क्या कवि या कलाकार का यह कर्त्तव्य नहीं है कि वह सोचे कि वह जीवन को सुला रहा है या जगा रहा है, बेहोश कर रहा है, या होश में ला रहा है, अमर बना रहा है या विनाश अथवा मृत्यु की ओर ले जा रहा है? इसका ध्यान रखना भी क्या 'बन्धन' की गिनती में आता है?

मानस सर की मंजु मराली मुक्त गगन में गाती है।
धरती पर जीवन बरसाती कविता बहती जाती है॥

कविता के इस परिचय, स्वरूप या व्याख्या से—यदि कविता की कोई व्याख्या हो सकती है तो—यदि आप सहमत हैं तो

'जी० सा०' आपकी तमाम कवि-ताओं का, भले ही लोग उसे रहस्यवादी,'छायावादी तो ठीक, 'भँडास' भी कह दें तो समर्थन करेगा। आपकी कविता मुक्त गगन में ऊँचे उड़े व गावे, उसका संगीत भी चाहे जितना मंजु-मधुर-रसपूर्ण हो, यदि मानव के लिये वह जीवन बरसाती है तो उसकी धारा में कौन अभागा स्नान करके प्रोत्साहित व पवित्र न होगा? क्या यह शर्त भी कविता को मंजूर नहीं?"

किन्तु निम्नलिखित वाक्य में जहाँ अर्द्धविराम का प्रयोग होना चाहिये था वहाँ आदेशक से काम लिया गया है:—

"दोष दुहेरा है—एक तो सिद्धान्त व नीती-सम्बन्धी; दूसरा क्षेत्र-विभाग सम्बन्धी।"

आदेशक के बहुत तरह के मनमाने प्रयोग हिन्दी में होने लगे हैं; विशेषकर कहानियों और उपन्यासों में इसके सम्बन्ध में बड़ा स्वेच्छाचार दिखाई पड़ता है। अस्तु।

निबन्ध-रचना के सम्बन्ध में यह संक्षिप्त निवेदन 'हाईफेन' संयोजक चिह्न, की चर्चा के अभाव में अपूर्ण ही रहेगा। रूप रंग में आदेशक से मिलने पर भी आकार और उद्देश्य दोनों ही में यह आदेशक से भिन्न है; आदेशक का आकार बड़ा होता है, इसका बहुत छोटा; आदेशक किसी शब्द की व्याख्या के लिये प्रयुक्त होता है, और संयोजक चिह्न दो शब्दों को मिलाने के लिये। किन्तु वर्तमान लेखकगण जितना ही इस ओर आकर्षित हैं उतना ही मनमाने ढंग से इसका प्रयोग भी कर रहे हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित अवतरण देखिए:—

"इसके सिवा वर्गचेतना और वर्ग-संघर्ष इन दोनों शब्दों के आधारभूत अर्थों के अन्तर को भी हमें देखना होगा। वर्गसंघर्ष की प्रवृत्ति तो यह है कि हम अपने और अपने वर्ग के अधिकारों

की प्रतिष्ठा के लिये अविधानात्मक अशान्ति को निमन्त्रण दें। किन्तु वर्गचेतना की प्रवृत्ति ऐसी नहीं है। वर्गचेतना तो असमान वितरण के उन आधारभूत कारणों से विधानात्मक असहयोग करना है, जिन्होंने समाज को आर्थिक असमानता से विषाक्त कर रक्खा है। आज जन-साधारण में यह भाव उत्पन्न हो गया है कि एक वर्ग हमारा शोषण कर रहा है और हमें उसकी इस प्रवृत्ति में सहायक नहीं होना चाहिये। वह इसके लिये अपना संगठन करता और प्रयत्नशील रहता है कि कभी उस पर व्यक्तिगत-सामूहिक संकट आवे, तो वह अपने संगठन से उसका सामना करे। मैं इस वर्ग-चेतना का समर्थक हूँ।"

उक्त अवतरण में वर्गचेतना का चार बार प्रयोग किया गया है; तीन बार तो 'वर्ग' और 'चेतना' के बीच में कोई संयोजक चिन्ह नहीं लगाया गया; किन्तु चौथी बार ऐसा किया गया है। 'वर्ग-संघर्ष' भी उक्त अवतरण में दो बार आया है और दोनों ही बार संयोजक चिन्ह के साथ। इन प्रयोगों में नियम का जो अभाव दिखायी पड़ रहा है, उसके सम्बन्ध में टीका-टिप्पणी करना व्यर्थ है।

संयोजक चिन्ह का प्रयोग करने के पहले हमें यह निर्णय करना चाहिये कि जिन दो शब्दों के बीच में हम उसे स्थापित कर रहे हैं वे वास्तव में दो शब्द हैं या नहीं। ऐसे दो शब्द जो अतिशय अभ्यास अथवा प्रयोग के कारण एक शब्दवत् प्रयुक्त होने लगे हैं, संयोजक चिन्ह की कोई आवश्यकता नहीं रखते; उदाहरणस्वरूप 'पाठशाला' 'रणभेरी', 'दयासागर', करुणासिंधु' आदि ऐसे ही शब्द हैं। हमारी समझ में संयोजक चिह्न का अधिक प्रयोग करने से लेखकों को बचना चाहिये

शक्ति की कल्पना, शक्ति की अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति की ओर अग्रसर होने वाले लेखकों को, निबन्ध लेखन के क्षेत्र में, यदि उपर्युक्त विवेचन से कुछ सहायता मिलेगी, तो हम अपना परिश्रम सफल समझेंगे।

प्रयाग

गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'
ब्रजभूषण शुक्ल

सम्मेलन-निबंधमाला

सूची

पंडित बालकृष्ण भट्ट

चंद्रोदय

अँधेरा पाख बीता, उजेला पाख आया। पश्चिम की ओर सूर्य डूबा, और वक्राकार हँसिया की तरह चंद्रमा उसी दिशा में दिखलाई पड़ा। मानो कर्कशा के समान पश्चिम दिशा सूर्य के प्रचंड ताप से दुःखी हो, क्रोध में आ इसी हँसिया को लेकर दौड़ रही है, और सूर्य भयभीत हो पाताल में छिपने के लिये जा रहा है। अब तो पश्चिम ओर आकाश सर्वत्र रक्तमय हो गया। क्या सचमुच इस कर्कशा ने सूर्य का काम तमाम किया, जिससे रक्त बह निकला? अथवा सूर्य भी क्रुद्ध हुआ, जिससे उसका चेहरा तमतमा गया, और उसी का यह रक्त आभा है? इस्लाम धर्म के माननेवाले नये चंद्र की बहुत बड़ी इज्जत करते हैं, सो क्यों? मालूम होता है, इसलिये कि दिन-दिन क्षीण होकर नाश को प्राप्त होता हुआ चंद्रमा मानो सबक देता है कि रमजान में अपने शरीर को इतना सुखाओ कि वह नष्ट हो जाय, तब देखो कि उत्तरोत्तर कैसे वृद्धि होती है। अथवा यह कामरूपी श्रोत्रिय ब्राह्मण के नित्य जपने का ओंकार महामंत्र है; या अंधकार महाराज के हटाने का अंकुश है; या विरहिणियों के प्राण कतरने की कैंची है; अथवा शृंगार रस से पूर्ण पिटारे के खोलने की कुंजी है; या तारा-मौक्तिकों से गुथे हार के बीच का यह सुमेरु है; अथवा जंगम जगत्-मात्र को डसनेवाले अनंग-भुजंग के फन पर का यह चमकता हुआ मणि है; या निशा-नायिका के चेहरे की की मुस्कराहट है; या संध्या नारी के काम-केलि के समय उसकी छाती पर लगा हुआ नखक्षत है; अथवा जगज्जेता कामदेव की धन्वा है; या तारा-मोतियों की दो सीपियों में से एक सीपी है।

इसी प्रकार दूज से बढ़ते-बढ़ते यह चंद्र पूर्णिमा को पहुँचा। यह पूनो का पूरा चाँद किसके मन को न भाता होगा? यह गोल-मोल

प्रकाश का पिंड देख भाँति-भाँति की कल्पनाएँ मन में उदय होती हैं कि क्या यह निशा-अभिसारिका के मुख देखने की आरसी है; या उसके कान का कुंडल अथवा फूल है; या रजनी रमणी के लिलार पर बुक्के का तिलक है; अथवा स्वच्छ नीले आकाश में यह चक्र मानों त्रिनेत्र शिव की जटा में चमकता हुआ कुंद के सफेद फूलों का गुच्छा है ? काम-वल्लभा रति की अटा में कूजता हुआ कबूतर है; अथवा आकाश रूपी बाजार में तारा-रूपी मोतियों का बेचनेवाला सौदागर है ! कुई की कलियों को विकसित करते, मृगनयनियों के मान को समूल उन्मीलित करते, छिटकी हुई चाँदनी से सब दिशाओं को धवलित करते, अंधकार को निगलते चंद्रमा सीढ़ीदर-सीढ़ी शिखर के समान आकाश रूपी विशाल पर्वत के मध्यभाग में चढ़ा चला आ रहा है। क्षपा-तमस्कांड का हटानेवाला यह चंद्रमा ऐसा मालूम होता है, मानो आकाश-महासरोवर में श्वेत कमल खिल रहा है, जिसमें बीच-बीच जो कलंक की कालिमा है, सो मानो भौंरे गूँज रहे हैं। अथवा सौंदर्य की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी के स्नान करने की यह बावड़ी है; या कामदेव की कामिनी रति का यह चूना पोता धवल गृह है, या आकाश गंगा के तट पर विहार करनेवाला हंस है, जो सोती हुई कुइयों के जगाने को दूत बनकर आया है; या देव-नदी आकाश गंगा का पुंडरीक है; या चाँदनी का अमृत-कुंड है; अथवा आकाश में जो तारे देख पड़ते हैं, वे सब गौएँ हैं, उनके झुंड में यह सफेद बैल है; या हीरे से जड़ा हुआ पूर्व-दिगंगना का कर्णफूल है; या कामदेव के बाणों को चोखा करने के लिये सान धरने के लिये सफेद पत्थर है, या संध्या-नायिका के खेलने का गेंद है। इसके उदय के पहले सूर्यास्त की किरणों से सब ओर जो ललाई छा गई है, सो मानो फागुन में इस रसिया चंद्र ने दिगंगनाओं के साथ फाग खेलने में अबीर उड़ाई है, वही सब ओर आकाश में छाई हुई है। अथवा निशा-योगिनी ने तारा-प्रसून-समूह से कामदेव की पूजा कर यावत् कामीजनों को अपने वश में करने के लिये छिटकी हुई चाँदनी के बहाने वशीकरण बुक्का उड़ाया है; अथवा

स्वच्छ नीले जल से भरे आकाश-हौदा में काल-महागणक ने रात के नापने को एक घटी-यंत्र छोड़ रक्खा है; अथवा जगद्विजयी राजा कामदेव का यह श्वेत छत्र है; वियोगी-मात्र को कामाग्नि में झुलसाने को यह दिनमणि है; कंदर्प-सीमंतिनी रतिदेवी की छुप्पेदार करधनी का टिकड़ा है; या उसी में जड़ा चमकता हुआ सफेद हीरा है; या सब कारीगरों के सिरताज आतशबाज की बनाई हुई चरखियों का यह एक नमूना है; अथवा महापथगामी समय-राज के रथ की सूर्य और चंद्रमा-रूपी दो पहियों में से यह एक पहिया है, जो चलते-चलते घिस गई है; इसी से बीच में कलाई देख पड़ती है; अथवा लोगों की आँख और मन को तरावट और शीतलता पहुँचाने वाला यह बड़ा भारी बर्फ़ का कुंड है; इसी से वेदों ने परमेश्वर के विराट् वैभव के वर्णन में चंद्रमा को मन और नेत्र माना है; या काल खिलाड़ी के खेलने का सफेद गेंद है; समुद्र के नीले पानी में गिरने से सूखने पर भी जिसमें कहीं कहीं नीलिमा बाकी रह गई है; या तारे रूपी मोतीचूर के दानों का यह बड़ा भारी पंसेरा लड्डू है, अथवा लोगों के शुभाशुभ काम का लेखा लिखने के लिये यह बिल्लौर की गोल दावात है; या खड़िया-मिट्टी का बड़ा भारी ढोंका है; या काल-खिलाड़ी की जेबी घड़ी का डायल है; या रजत का कुंड है; या आकाश के नीले गुंबज में यह संगमरमर का गोल शिखर है। शिशिर और हेमंत में हिम से जो इसकी द्युति दब जाती है, सो मानो यह तपस्या कर रहा है, जिसका फल यह चित्रा के संयोग से शोभित हो चैत्र की पूनों के दिन पावेगा, जब इसकी द्युति फिर दामिन सी दमकेगी। इसी से कवि-कुल गुरु कालिदास ने कहा है—

"हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव।"

पंडित बदरीनारायण चौधरी

हिन्दी भाषा का स्वरूप

जैसे इन दिनों जब तक कि रजिस्ट्री न हो जाय, सच्चे से सच्चा दस्तावेज़ भी प्रामाणिक नहीं माना जाता, वैसे ही जब तक कोई पश्चिमीय विद्वान् स्वीकार न कर लें, कोई प्रमाण प्रमाणित नहीं कहा जाता। प्रमाणित न माना जाय। अदालत डिग्री न दे। तो भी क्या वह सच्चा दस्तावेज़ वास्तव में झूठा है? एक दिन भारत ही से विद्या, विज्ञान और सभ्यता सारे संसार में फैली थी। आज पश्चिम में ज्ञान-सूर्य का प्रकाश हुआ है और निःसन्देह अब मानो पश्चिम उसका सब ऋण चुका चला है। आज वहीं की विद्या और विज्ञान से भारत की आँखें खुली हैं। हमारे देश के लोग अब तक अवश्य ही अविद्या अंधकार में सो रहे थे। उनके अनेक अटपटे आक्षेपों का प्रतिवाद कौन करता? अब उनके द्वारा ये भी जगे और उनके सम्मतिस्वर्ण को निज विचार की कसौटी पर कस चले हैं। आशा है कि कुछ दिनों में बहुतेरे विवादग्रस्त विषय उभय पक्ष में सिद्धान्त रूप से स्वीकृत हो जायँगे। यद्यपि अनेक भारत-सन्तान आज उन्हीं के सुर में सुर मिलाये वही राग अलाप रहे हैं। किन्तु वे क्या करें कि उन्हीं की टेकनी के सहारे वे चल सकते हैं। तो भी सदा यही दिन न रहेगा। सदैव हमारे भाई औरों ही की पकाई खिचड़ी खाकर न सराहेंगे। वरञ्च वे भी शीघ्र ही पूर्वी और पश्चिमी उभय विज्ञान-चक्षु को समान भाव से खोलेंगे, आलस्य छोड़ कर अपने अमूल्य रत्नों को टटोलेंगे और खरे खोटे की परख कर स्वयं अपने सच्चे सिद्धान्त स्थिर कर लेंगे।

अभी कल की बात है कि हमारे देश के गौरव-स्वरूप ब्राह्मण-कुल-तिलक पण्डितवर बाल गङ्गाधर तिलक ने अपने विलक्षण विद्या, वैभव, और प्रतिभा से वैदिक साहित्य की प्राचीनता—पश्चिमीय विद्वान ४ सहस्र

वर्ष से अधिक नहीं मानते थे, उसे ८ सहस्त्र वर्ष सिद्ध कर दिया है। योंही अन्य अनेक ऐसे अमूल्य सिद्धान्त वेदों से आविष्कृत और प्रकाशित किए जिसे सुन वे चौकन्ने हो गए। कई बार आगे भी भारत पर अज्ञानान्धकार और विपरीत विचार का अधिकार हो चुका है, किन्तु फिर यथार्थ ज्ञान-सूर्योदय ने उसे छिन्न-भिन्न कर दिया है। जब तक वह दिन न आ जाय, हमें धैर्य-धारणापूर्वक अपने सहस्त्रों वर्षों से चले आते सच्चे सिद्धान्त और विश्वास से टसकना न चाहिए। आप लोग क्षमा करें कि मैं प्रकृत विषय से बहक कर व्यर्थ बहुत दूर जा पहुँचा।

निदान देववाणी क्रमशः व्याकरण और साहित्य के विविध अंग प्रत्यंगों से युक्त हो इतनी उन्नत अवस्था को पहुँची कि आज भी संसार की भाषाएँ अनेक अंशों में उसके आगे सिर झुका रही हैं। आरम्भ में वही यहाँ की सामान्य भाषा वा राष्ट्रभाषा थी। फिर राज-भाषा अथवा नागरी भाषा हुई, क्योंकि क्रमशः व्याकरण के नियमों से वह ऐसी जकड़ दी गई कि केवल पढ़े लिखे लोगों ही से बोली और समझी जाने योग्य रह गई, जिसके पढ़ने के अर्थ मनुष्य की आयु भी पर्याप्त नहीं समझी जाती थी, मानो वह उन्नति की चरम सीमा को पहुँच गई। इसी से उसकी शिक्षा के अर्थ उस दूसरी लोकभाषा को भी सुधारने और नियमबद्ध करने की आवश्यकता आ पड़ी। वह भाषा वैदिक अपभ्रंश वा मूल प्राकृत थी, जो बुधजन और विद्वानों से क्रमशः परिमार्जित होकर आर्ष प्राकृत कहलाई। मानों तभी से लेकेयक लैंगवेज का सूत्रपात हो चला।

बहुतेरों का मत है कि—प्राकृत ही से संस्कृत की उत्पत्ति हुई है, क्योंकि वेदों में भी *गाथा-रूप* से इसका अस्तित्व पाया जाता है और संस्कृत नाम ही मानो इसका साक्षी देता है। परन्तु यह केवल भ्रम है, जो प्राकृत व्याकरणों पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर सर्वथा दूर हो जाता है, क्योंकि वे सदैव संस्कृत ही का अनुकरण करते, संस्कृत ही से प्राकृत बनाने की विधि का विधान बतलाते और प्रायः देववाणी का

संस्कृत ही से उसकी सृष्टि की सूचना देते हैं। सारांश संस्कृत प्रकृति से निकली भाषा ही को प्राकृत कहते हैं।

निदान इस प्रकार वह परिमार्जित वैदिक अपभ्रंश भाषा वा आर्ष प्राकृत, जिसकी क्रमशः अनेक शाखा-प्रशाखाएँ होती गईं, संस्कृत के प्रचार की न्यूनता के सङ्ग राष्ट्रभाषा बन चली और इस देश के चारों ओर विशेष विस्तृत हो प्रान्तिक प्राकृतों से मिलती जुलती वही अन्त को महाराष्ट्री प्राकृत भी कहलाई। उस समय तक केवल पवित्र वैदिक धर्म ही की धूम थी। गुरुकुल, परिषद् और पाठालयों में वेदध्वनि का गुंजार और सत् शास्त्रों का अध्ययनाध्यापन होता रहा। चारों वर्ण और आश्रम अपने अपने धर्म पर स्थित थे। सुख-स्वास्थ्य और आनन्द उत्सव का आश्रम यही देश बन रहा था।

पै कछु कही न जाय, दिनन के फेर फिरे सब।
दुरभागनि सों इत फैले फल फूट बैर जब॥
भयो भूमि भारत मैं महा भयंकर भारत।
भये वीरवर सकल सुभट एकहि सङ्ग गारत॥
मरे विबुध नरनाह सकल चातुर गुन मंडित।
बिगरो जन समुदाय बिना पथ दर्शक पंडित॥
सत्य धर्म के नसत गयो बल, विक्रम, साहस।
विद्या बुद्धि विवेक विचाराचार रह्यो जस॥
नये नये मत चले, नये झगरे नित बाढ़े।
नये नये दुख परे सीस भारत पैं गाढ़े॥

यही आचार्यों की अदूरदर्शिता थी कि उन्होंने पिछले काँटे लोकभाषा में धर्म की शिक्षा का क्रम नहीं चलाया था, जिस कारण सत्य धर्माचार शिथिल हो गया और नाना प्रकार के अनाचारों का प्रचार हो चला था, जिसके संशोधन के अर्थ लोग उद्यत हुए। नये नये प्रकार के धर्म और आचार विचार की शिक्षा सुनकर, अपने धर्म से अनभिज्ञ जन अधाधुंध बहक चले।

बौद्ध धर्म के डंके बजने लगे। संस्कृत का पठन पाठन छूटा। प्राकृत के दिन लौटे। वह राष्ट्र और राज-भाषा को छोड़कर धर्म की भी भाषा बन चली। आर्ष प्राकृत वा महाराष्ट्री अब मागधी और पाली बन, भाषाओं की मा कहलाने का दावा कर चली। महाराज प्रियदर्शी अशोक के प्रताप के सङ्ग यह भी दूर दूर तक अपना अधिकार जमा चली। क्योंकि जब बुद्धदेव प्रगट हुए, प्रचरित देश भाषा ही में वे अपना उपदेश कर चले। संस्कृत में उपदेश का होना भी कठिन था। राजा का सहारा पाकर बौद्ध मत सारे भारत में व्याप्त हो गया। जैन धर्म के घन भी घुमड़कर घिर रहे थे। ब्राह्मणों के प्राणों के लाले पड़ रहे थे। जैसे आज उर्दू के प्रबल अधिकार से हिन्दी कोनों में दुबक दुबक कर छिपी जीवन धारण कर रही है, संस्कृत भी प्राकृत से दबी छिपी अपनी प्राण-रक्षा कर रही थी। तौ भी सनातन धर्म के सभी ग्रन्थ संस्कृत ही में होने के कारण नवीन धर्मावलम्बी जन, प्राचीन धर्म के खण्डन और स्वमत मण्डन के अभिप्राय से, उदार जन, साहित्य परिज्ञान और उसके अनुयायी, धर्म ज्ञानार्थ उसे कुछ न कुछ सीखते समझते ही रहे।

निदान उस देववाणी वा वेदभाषा त्रिपथगा की इहलौकिक धारा वैदिक अपभ्रंश-प्राकृत-गंगोत्तरी से, जो आर्ष प्राकृत नाम्नी गंगा बही, तो जैसे सुरसरिता क्रमशः अनेक नाम और रूप धारण करती कोड़ियों नदी नद को अपने में लीन करती, भारत भूमि के प्रधान भागों को उपजाऊ बनाती, सैकड़ों शाखाओं में बँट कर समुद्र से जा मिली, और जैसे गंगोत्तरी से चल कर प्रयाग तक जान्हवी अपनी श्वेत धारा सुधास्वादु सलिल के रूप और गुण को स्थिर रख सकी, किन्तु यमुना से मिल कर वर्ण में श्यामता और गुण में वातुलता ला चली, उसी प्रकार आर्ष प्राकृत भी हिमालय से लेकर कुरुक्षेत्र तक आते अपने रूप और गुण को स्थिर रख सकी। इसके पीछे जनपद विस्तार क्रम के अनुसार इसके रंग, रूप और गुणों में भेद हो चला, तौ भी भागीरथी के तुल्य उसकी प्रधान शाखा महाराष्ट्री की प्रधानता आरम्भ से अवसान तक बनी ही रही। महाराष्

शब्द से प्रयोजन दक्षिण देश से नहीं है। किन्तु भारत रूपी महाराष्ट्र से है। देश विशेष की भाषाएँ इसकी शाखा स्वरूप दूसरी ही है। जैसे कि—शौरसेनी, आवन्ती, मागधी आदि। विश्वनाथ कविराज ने बहुतेरी भाषाओं के नाम बतलाए हैं, जिनमें अधिकांश प्रायः प्रधान प्राकृत ही के भेद हैं और जिनकी सन्तति आज भारत की प्रचलित समग्र प्रान्तिक भाषाएँ हैं। यथा पञ्जाबी, गुजराती, मराठी, बँगला इत्यादि।

हमारी भारतभारती की शैशवावस्था का रूप ब्राह्मी वा देववाणी है। उसकी किशोरावस्था वैदिक भाषा, और संस्कृत उसकी यौवनावस्था की सुन्दर मनोहर छटा है। उसकी प्रथम पुत्री गाथा वा प्रधान प्राकृत की वैदिक अपभ्रंश भाषा शैशवावस्था, आर्ष प्राकृत किशोरावस्था, और महाराष्ट्री तथा प्रान्तिक प्राकृतें यौवनावस्था हैं। उसकी दूसरी पुत्री वा शाखा पैशाची वा आसुरी की अनेक और अनेक शाखाएँ फैलीं। जैसे पश्चिमी की क्रमशः पुरानी पारसी पहलवी वा वर्तमान फारसी और पश्तो आदि हैं, जिनसे यहाँ हमें कुछ प्रयोजन नहीं है। प्रान्तिक प्राकृतों की भी अनेक शाखाएँ फैलीं, जिनसे वर्तमान प्रचरित भाषाओं की उत्पत्ति है। उनका प्रथम रूप प्रान्तिक प्राकृतें, दूसरा उनके अपभ्रंश और तीसरा वर्तमान भाषाएँ हैं। जैसा कि हमारी भाषा का आदि रूप शौरसेनी वा अर्द्धमागधी, तो दूसरा नागर अपभ्रंश और तीसरा, प्राचीन भाषा है। औरों से यहाँ कुछ प्रयोजन नहीं है, इसी से हम केवल अपनी भाषा के रूपों और अवस्थाओं ही का क्रम कहते हैं। अर्थात्,—

वर्तमान हमारी भाषा का प्रथम रूप वा उसकी शैशवावस्था पुरानी भाषा अर्थात् प्राकृत-अपभ्रंश-मिश्रित-भाषा है। जिसकी झलक आज चन्द बरदाई के पृथ्वीराज रासो में पाई जाती है। उसकी यौवनावस्था का दूसरा रूप भाषा वा ब्रजभाषा अथवा मिश्रित भाषा है। जिसका दर्शन कबीर, सूर, केशव, खुसरो, जायसी, तुलसी, बिहारी और देव, द्विजदेव आदि की कविताओं में हम पाते हैं। इसे किशोरावस्था और क्रमशः उसकी नव-यौवनावस्था भी कहें, तो कुछ हानि नहीं, तीसरी

अवस्था इसका वर्तमान रूप है। जिसके पद्य के कवियों में देव स्वामी, बाबू हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास, श्रीनिवास-दास और श्रीधर पाठक आदि, यों ही गद्य के लल्लूजी लाल, राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मण सिंह, भारतेन्दु और वर्तमान समय के अन्य सुलेखक हैं। जिसे उसकी पूर्ण यौवनावस्था वा प्रौढ़ावस्था भी कह सकते हैं।

पंडित प्रतापनारायण मिश्र

मिडिल क्लास

जो लोग सचमुच विद्या के रसिक हैं उन्हें तो एम० ए० पास करके भी तृप्ति नहीं होती, क्योंकि विद्या का अमृत ऐसा ही स्वादिष्ट है कि मरने के पीछे भी मिलता रहे तो अहोभाग्य ! पर जो लोग कुछ क, म, घ, सीख के पेट के धंधे में लग जाना ही इतिकर्तव्यता समझते हैं उनके लिये मिडिल की भी ऐसी छूत लगा दी गई है कि झींखा करें बरसों ! नहीं तो इन बेचारे दस-दस रुपया की पिसौनी करनेवालों को कब जहाज पर चढ़ के जगज्जात्रा करने का समय मिलता है जो जुगराफिया रटाई जाती है ? कौन दिल्ली और लखनऊ के बादशाह बैठे हैं जो अपने पूर्वजों का चरित्र सुनकर खिलअत बख्श देंगे, जो तवारीख के समय की हत्या की जाती है ? साधारण नौकर को लिखना, पढ़ना, बोलना, चालना, हिसाब-किताब बहुत है। मिडिल वाले कोई प्रोफेसर तो होते ही नहीं, इन बेचारे पेटार्थियों को विद्या के बड़े-बड़े विषयों में श्रम कराना मानो चींटी पर हाथी का हौदा रखना है। बेचारे अपने धंधे से भी गए, बड़े विद्वान् भी न भए। 'मिडिल' शब्द का अर्थ ही है अधबिच, अर्थात् आधे सरग त्रिशङ्कु की भांति लटके रहो, न इतके न उतके। इससे तो सरकार की मंशा यही पाई जाती है कि हिन्दोस्तानी लोग नौकरी की आशा छोड़ें, पर इन गुलामी के आदमियों को समझावे कौन ?

यदि प्रत्येक जाति के लोग अपने सन्तान को सबसे पहले निज-व्यापार सिखलाया करें तो वे नौकरी-पेशों से फिर भी अच्छे रहें। इधर नौकरों की कमी रहने से सरकार भी यह हठ छोड़ बैठे। जिनको स्यानेपन में पढ़ने की रुचि होगी वे क्या और धंधा करते हुए विद्या नहीं सीख सकते ? पर कौन सुनता है कि "व्यापारे वसति लक्ष्मी !" यहाँ तो बाबूगीरी के लती-भाई, कुछ हो, अपनी चाल न छोड़ेंगे।

भगवति विद्ये ! तुम क्या केवल सेवा ही कराने को हो ? हम तो सुनते हैं, तुम्हारे अधिकारी पूजनीय होते थे ! अस्तु, है तो अच्छा ही है। अभागे देश का एक यही लक्षण क्यों रह जाय कि सेवावृत्ति में भी बाधा ? न जाने, हरसाल खेप की खेप तैयार होती है, इन्हें इतनी नौकरी कहाँ से आवेगी ?

सरकार हमारी सलाह माने तो एक और कोई मिडिल क्लास की पख निकाल दे, जिसके बिना बहरागीरी, खनसामागीरी, ग्रासकटगीरी आदि भी न मिले। देखें तो, कब तक नौकरी के पीछे सती होते हैं ? अरे बाबा ! यदि कमाने पर ही कमर बाँधी है तो घर का काम काटता है ? क्या हाथ के कारीगर और चार पैसे के मजूर दस पन्द्रह का महीना भी नहीं पैदा करते ? क्या ऐसों को बाबुओं के से कपड़े पहिनना मना है ? वरंच देश का बड़ा हित इसी में है कि सैकड़ों तरह का काम सीखो। सार्टीफिकेट लिये बँगले-बँगले मारे-मारे फिरने में क्या धरा है जो सरकार को हरसाल इमतिहान अधिक कठिन करने की चिन्ता में फँसाते हो ! बाबूगीरी कोई स्वर्णगीरी (सोने का पहाड़) नहीं है। पास होने पर भी सिफारिश चाहिए तब नौकरी मिलेगी, और यह कोई नियम नहीं है कि मिडिलवाले नौकरी से बरखास्त न होते हों या उन्हें बिना फिक्र नौकरी मिल ही रहती हो। क्यों, उतना ही श्रम और काम में नहीं करते ?

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी

कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता

कवि स्वभाव ही से उच्छृङ्खल होते हैं। वे जिस तरफ झुक गए। जी में आया तो राई का पर्वत कर दिया; जी में न आया तो हिमालय की तरफ भी आँख उठाकर न देखा। यह उच्छृङ्खलता या उदासीनता सर्वसाधारण कवियों में तो देखी ही जाती है, आदि कवि भी इससे नहीं बचे। क्रौंच पक्षी के जोड़े में से एक पक्षी को निषाद द्वारा बध किया गया देख जिस कवि-शिरोमणि का हृदय दुःख से विदीर्ण हो गया, और जिसके मुख से "मा निषाद" इत्यादि सरस्वती सहसा निकल पड़ी, वही पर-दुःख-कातर मुनि—रामायण निर्माण करते समय, एक नवपरिणीता दुःखिनी वधू को बिलकुल भूल गया। विपत्ति-विधुरा होने पर उसके साथ अल्पाल्पतरा समवेदना तक उसने न प्रकट की—उसकी खबर तक न ली।

वाल्मीकि-रामायण का पाठ किंवा पारायण करनेवालों को उर्मिला के दर्शन सबसे पहले जनकपुर में सीता, माण्डवी और श्रुतिकीर्ति के साथ होते हैं। सीता की बात तो जाने ही दीजिए, उनके और उनके जीवितधार रामचन्द्र के चरित्र-चित्रण ही के लिये रामायण की रचना हुई। माण्डवी और श्रुतिकीर्ति के विषय में कोई विशेषता नहीं। क्योंकि आग से भी अधिक सन्ताप पैदा करनेवाला पति-वियोग उनको हुआ ही नहीं! रही बाल वियोगिनी देवी उर्मिला, सो उसका चरित सर्वथा गेय और आलेख्य होने पर भी, कवि ने उसके साथ अन्याय किया। मुने! इस देवी की इतनी उपेक्षा, इतना कार्पण्य क्यों? क्या इसलिए कि इसका नाम इतना श्रुति-सुखद, इतना मंजुल, इतना मधुर है, और तापस-जनों का शरीर सदैव शीतताप सहने के कारण कठोर और कर्कश होता है—पर नहीं, आपका काव्य पढ़ने से तो यही जान पड़ता है कि

आप कटुता-प्रेमी नहीं। भवतु नाम। हम इस उपेक्षा का एकमात्र कारण भगवती उर्मिला का भाग्यदोष ही समझते हैं। हा हतविधिललिते परमकारुणिकेन मुनिना वाल्मीकिनाऽपि विस्मृतासि।

हा वाल्मीकि! जनकपुरी में तुम उर्मिला को सिर्फ एक बार, वैवाहिकवधू वेश में, दिखाकर चुप हो बैठे। अयोध्या आने पर ससुराल में उसकी सुध यदि आपको न रही, पर क्या लक्ष्मण के वन-प्रयाण-समय में भी उसके दुःखाश्रु मोचन करना आपको उचित न जँचा? रामचन्द्र के राज्याभिषेक की जब तैयारियाँ हो रही थीं, जब राजान्तःपुर ही क्यों सारा नगर नन्दनवन बन रहा था, उस समय नवला उर्मिला कितनी खुशी मना रही थी, सो क्या आपने नहीं देखा? अपने पति के परमाराध्य राम को राज्यसिंहासन पर आसीन देख उर्मिला को कितना आनन्द होता, इसका अनुमान क्या आपने नहीं किया? हाय! वही उर्मिला एक घंटे के बाद, राम जानकी के साथ, निज पति को १४ वर्ष के लिये वन जाते देख, छिन्नमूल शाखा की तरह राज-सदन की एक एकान्त कोठरी में भूमि पर लोटती हुई क्या आपके नयन गोचर नहीं हुई? फिर भी उसके लिये आपकी "वचने दरिद्रता।" उर्मिला वैदेही की छोटी बहिन थी। सो उसे बहिन का भी वियोग सहना पड़ा और प्राणाधार पति का भी वियोग सहना पड़ा। पर इतनी घोर दुःखिनी पर भी आपने दया न दिखाई। चलते समय लक्ष्मण को उसे एक बार आँख भर देख भी न लेने दिया। जिस दिन राम और लक्ष्मण, सीता देवी के साथ चलने लगे—जिस दिन उन्होंने अपने पुरत्याग से अयोध्या नगरी को अन्धकार में, नगरवासियों को दुःखोदधि में और पिता को मृत्युमुख में निपतित किया, उस दिन भी आपको उर्मिला याद न आई! उसकी क्या दशा थी, वह कहाँ पड़ी थी, सो कुछ भी आपने न सोचा? इतनी उपेक्षा!

लक्ष्मण ने अकृत्रिम भ्रातस्नेह के कारण बड़े भाई का साथ दिया। उन्होंने राज-पाट छोड़कर अपना शरीर रामचन्द्र को अर्पण किया। यह

बहुत बड़ी बात की। पर उर्मिला ने इससे भी बढ़कर आत्मोत्सर्ग किया। उसने अपनी आत्मा की अपेक्षा भी अधिक प्यारा अपना पति राम जानकी के लिये दे डाला और यह आत्मसुखोत्सर्ग उसने तब किया जब उसे ब्याह कर आये हुए कुछ ही समय हुआ था। उसने अपने सांसारिक सुख के सबसे अच्छे अंश से हाथ धो डाला। जो सुख विवाहोत्तर उसे मिलता उसकी बराबरी १४ वर्ष पति-वियोग के बाद का सुख कभी नहीं कर सकता। नवोढ़त्व को प्राप्त होते ही जिस उर्मिला ने, रामचन्द्र और जानकी के लिए, अपने सुख, सर्वस्व पर पानी डाल दिया उसी के लिए अन्तर्दर्शी आदि कवि के शब्दभंडार में दरिद्रता !

पति-प्रेम और पति-पूजा की शिक्षा सीता देवी को जहाँ मिली थी वहीं उर्मिला को भी मिली थी। सीता देवी की सम्मति थी कि—

जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते।
पिय बिनु तियहिं तरनि ते ताते ॥

उर्मिला की क्या यह भावना न थी ? जरूर थी। दोनों एक ही घर की थीं। उर्मिला भी पतिपरायणता-धर्म को अच्छी तरह जानती थी। पर उसने लक्ष्मण के साथ वन-गमन की हठ, जान बूझकर नहीं की। यदि वह भी साथ जाने को तैयार होती तो लक्ष्मण को अपने अग्रज राम के साथ उसे ले जाते संकोच होता, और उर्मिला के कारण लक्ष्मण अपने उस आराध्य-युग्म की सेवा भी अच्छी तरह न कर सकते। यही सोचकर उर्मिला ने सीता का अनुकरण नहीं किया। यह बात उसके चरित्र की महत्ता की बोधक है। वाल्मीकि को ऐसी उच्चाशय रमणी का विस्मरण होते देख किस कविता-मर्मज्ञ को आन्तरिक वेदना न होगी ?

तुलसीदास ने भी उर्मिला पर अन्याय किया है। आपने इस विषय में आदि कवि का ही अनुकरण किया है। "नानापुराणनिगमागमसम्मत" लेकर जब रामचरितमानस की रचना करने की घोषणा की थी, तब यहाँ पर आदि काव्य को ही अपने वचनों का आधार मानने की कोई वैसी

जरूरत नहीं थी। आपने भी चलते वक्त लक्ष्मण को उर्मिला से नहीं मिलने दिया। माता से मिलने के बाद, झट कह दिया—

गये लषण जहँ जानकिनाथा।

आपके इष्टदेव के अनन्य-सेवक 'लषण' पर इतनी सख्ती क्यों? अपने कमण्डलु के करुणानीर का एक भी बूँद आपने उर्मिला के लिए न रक्खा। सारा का सारा कमण्डलु सीता को समर्पण कर दिया। एक ही चौपाई में उर्मिला की दशा का वर्णन कर देते। अथवा उसी के मुँह कुछ कहलाते। पाठक सुन तो लेते कि राम-जानकी के बनवास और अपने पति के वियोग के सम्बन्ध में क्या क्या भावनाएँ उसके कोमल हृदय में उत्पन्न हुई थीं। उर्मिला को जनकपुर से साकेत पहुँचाकर उसे एकदम ही भूल जाना अच्छा नहीं हुआ।

हाँ, भवभूति ने इस विषय में कुछ कृपा की है। राम, लक्ष्मण और जानकी के वन से लौट आने पर भवभूति को बेचारी उर्मिला एक बार याद आ गई है। चित्र-फलक पर उर्मिला को देखकर सीता ने लक्ष्मण से पूछा—"इयमप्यपरा का ?" अर्थात्—लक्ष्मण, यह कौन है ? इस प्रकार देवर से पूछना कौतुक से खाली नहीं। इसमें सरसता है। लक्ष्मण इस बात को समझ गए। वे कुछ लज्जित होकर मन ही मन कहने लगे—"उर्मिला को सीता देवी पूछ रही हैं।" उन्होंने सीता के प्रश्न उत्तर दिये बिना ही उर्मिला के चित्र पर हाथ रख दिया। उनके हाथ से वह ढक गया। कैसे खेद की बात है कि उर्मिला का उज्ज्वल चरित कवियों के द्वारा भी आज तक इसी तरह ढकता आया।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त

शिवशम्भु का चिट्ठा

नारङ्गी के रस में जाफरानी बसन्ती बूटी छानकर शिवशम्भु शर्मा खटिया पर पड़े मौजों का आनन्द ले रहे थे। खयाली घोड़े की बागें ढीली कर दी थीं। वह मनमानी जकन्दें भर रहा था। हाथ पाँवों को भी स्वाधीनता दी गई थी। वह खटिया के तूलअरज़ की सीमा उल्लंघन करके इधर उधर निकल गए थे। कुछ देर इसी प्रकार शर्मा जी का शरीर खटिया पर था और खयाल दूसरी दुनिया में।

अचानक एक सुरीली गाने की आवाज ने चौंका दिया। कन-रसिया शिवशम्भु खटिया पर उठ बैठे। कान लगाकर सुनने लगे। कानों में यह मधुर गीत बार-बार अमृत ढालने लगा—

चलो चलो आज खेलें होली, कन्हैया घर।

कमरे से निकल कर बरामदे में खड़े हुए। मालूम हुआ कि पड़ोस में किसी अमीर के यहाँ गाने बजाने की महफिल हो रही है। कोई सुरीली लय से उक्त होली गा रहा है। साथ ही देखा बादल घिरे हुए हैं, बिजली चमक रही है, रिमझिम झड़ी लगी हुई है। बसन्त में सावन देख कर अकल जरा चक्कर में पड़ी। विचारने लगे कि गानेवाले को मलार गाना चाहिये था न कि होली। साथ ही खयाल आया कि फागुन सुदी है, बसन्त के विकाश का समय है, वह होली क्यों न गावे! इसमें तो गानेवाले की नहीं, विधि की भूल है, जिसने बसन्त में सावन बना दिया है। कहाँ तो चाँदनी छिटकी होती, निर्मल वायु बहती, कोयल की कूक सुनाई देती। कहाँ भादों की सी अँधियारी है, वर्षा की झड़ी लगी हुई है! ओह! कैसा ऋतुविपर्यय है!

इस विचार को छोड़कर गीत के अर्थ का विचार जी में आया। होली खिलैया कहते हैं कि चलो आज कन्हैया के घर होली खेलेंगे।

कन्हैया कौन ? ब्रज के राजकुमार और खेलनेवाले कौन ? उनकी प्रजा ग्वालबाल । इस विचार ने शिवशम्भु शर्मा को और भी चौंका दिया कि ऐं ! क्या भारत में ऐसा समय भी था जब प्रजा के लोग राजा के घर जाकर होली खेलते थे और राजा प्रजा मिलकर आनन्द मनाते थे ? क्या इसी भारत में राजा लोग प्रजा के आनन्द को किसी समय अपना आनन्द समझते थे ? अच्छा यदि आज शिवशम्भु शर्मा अपने मित्रवर्ग सहित अबीर गुलाल की झोलियाँ भरे रङ्ग की पिचकारियाँ लिये अपने राजा के घर होली खेलने जाये तो कहाँ जाये ? राजा दूर सात समुद्र पार है । राजा का केवल नाम सुना है । न राजा को शिवशम्भु ने देखा न राजा ने शिवशम्भु को । खैर, राजा नहीं उसने अपना प्रतिनिधि भारत में भेजा है । कृष्ण द्वारिका ही में हैं, पर उद्धव को प्रतिनिधि बना कर ब्रजवासियों को सन्तोष देने के लिये ब्रज में भेजा है । क्या उस राजप्रतिनिधि के घर जाकर शिवशम्भु होली नहीं खेल सकता ?

ओफ् ! यह विचार वैसा ही बेतुका है जैसा अभी वर्षा में होली गाई जाती थी ! पर इसमें गानेवाले का क्या दोष है, वह तो समय समझकर ही गा रहा था । यदि बसन्त में वर्षा की झड़ी लगे तो गाने वाले को क्या मलार गाना चाहिये ? सचमुच बड़ी कठिन समस्या है । कृष्ण हैं, उद्धव हैं, पर ब्रजवासी उनके निकट भी नहीं फटकने पाते । राजा है, राजप्रतिनिधि है, पर प्रजा की उन तक रसाई नहीं ! सूर्य है धूप नहीं । चन्द्र है चाँदनी नहीं । माई लार्ड नगर ही में है, पर शिवशम्भु उनके द्वार तक नहीं फटक सकता है, उनके घर चलकर होली खेलना तो विचार ही दूसरा है । माई लार्ड के घर तक प्रजा की बात नहीं पहुँच सकती । बात की हवा नहीं पहुँच सकती । जहाँगीर की भाँति उसने अपने शयनागार तक ऐसा कोई घण्टा नहीं लगाया जिसकी जंजीर बाहर से हिलाकर प्रजा अपनी फरयाद उसे सुना सके । न आगे को लगाने की आशा है । प्रजा की बोली वह नहीं समझता, उसकी बोली प्रजा नहीं समझती । प्रजा के मन का भाव वह न समझता है न

समझना चाहता है। उसके मन का भाव न प्रजा समझ सकती है न समझने का कोई उपाय है। उसका दर्शन दुर्लभ है। द्वितीया के चन्द्र की भाँति कभी कभी बहुत देर तक नजर गड़ाने से उसका चन्द्रानन दिख जाता है। लोग उँगलियों से इशारे करते हैं कि वह है। किन्तु दूज के चाँद के उदय का भी एक समय है। लोग उसे जान सकते हैं। माई लार्ड के मुखचन्द्र के उदय के लिए कोई समय भी नियत नहीं। अच्छा जिस प्रकार इस देश के निवासी माई लार्ड का चन्द्रानन देखने को टकटकी लगाये रहते हैं या जैसे शिवशम्भु शर्मा के जी में अपने देश के माई लार्ड से होली खेलने की आई इस प्रकार कभी माई लार्ड को भी इस देश के लोगों की सुध आती होगी? क्या कभी श्रीमान् का जी होता होगा कि अपनी प्रजा में, जिसके दण्डमुख के विधाता होकर आप हैं, किसी एक आदमी से मिलकर उसके मन की बात पूछें या कुछ आमोद-प्रमोद की बातें करके उसके मन को टटोलें? माई लार्ड को ड्यूटी का ध्यान दिलाना सूर्य को दीपक दिखाना है। वह स्वय श्रीमुख से कह चुके हैं कि ड्यूटी में बँधा हुआ मैं इस देश में फिर आया। यह देश मुझे बहुत ही प्यारा है। इससे ड्यूटी और प्यार की बात श्रीमान् के कथन से ही तय हो जाती है। उसमें किसी प्रकार की हुज्जत उठाने की जरूरत नहीं। तथापि यह प्रश्न आपसे आप जी में उठता है कि इस देश की प्रजा से प्रजा के माई लार्ड का निकट होना और प्रजा के लोगों की बात जानना भी उस ड्यूटी की सीमा तक पहुँचा है या नहीं? यदि पहुँचता है तो क्या श्रीमान् बता सकते हैं कि अपने छः साल के लम्बे शासन में इस देश की प्रजा को क्या जाना और उससे क्या सम्बन्ध उत्पन्न किया? जो पहरेदार सिर पर फैटा बाँधे हाथ में संगीनदार बन्दूक लिये काठ के पुतलों की भाँति गवर्नमेण्ट हौस के द्वार पर दण्डायमान रहते हैं या छाया की मूर्ति की भाँति जरा इधर उधर हिलते जुलते दिखाई देते हैं कभी उनको भूले भटके आपने पूछा है कि कैसी गुजरती है? किसी काले प्यादे चपरासी या खानसामा आदि से

कभी आपने पूछा कि कैसे रहते हो ? तुम्हारे देश का क्या हालचाल है ? तुम्हारे देश के लोग हमारे राज्य को कैसा समझते हैं ? क्या इन नीचे दर्जे के नौकर-चाकरों को कभी माइ लार्ड के श्रीमुख से निकले हुए अमृत रूपी वचनों के सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ या खाली पेड़ों पर बैठी चिड़ियों का शब्द ही उनके कानों तक पहुँच कर रह गया ? क्या कभी सैर तमाशे में टहलने के समय या किसी एकान्त स्थान में इस देश के किसी आदमी से कुछ बातें करने का अवसर मिला ? अथवा इस देश के प्रतिष्ठित बेगरज आदमी को अपने घर पर बुला कर इस देश के लोगों के सच्चे विचार जानने की चेष्टा की ? अथवा कभी विदेश या रियासतों के दौरे में उन लोगों के सिवा, जो झुक झुककर लम्बी सलामें करने आए हों, किसी सच्चे और बेपरवा आदमी से कुछ पूछने या समझने का कष्ट किया ? सुनते हैं कि कलकत्ते में श्रीमान् ने कोना कोना देख डाला। भारत में क्या भीतर और क्या सीमाओं पर कोई जगह देखे बिना नहीं छोड़ी। बहुतों का ऐसा ही विचार था। पर कलकत्ता यूनिवर्सिटी के परीक्षोत्तीर्ण छात्रों की सभा में चैन्सलर का जामा पहनकर माइ लार्ड ने जो अभिज्ञता प्रगट की उससे स्पष्ट हो गया कि जिन आँखों से श्रीमान् ने देखा उनमें इस देश की बातें ठीक देखने की शक्ति न थी।

सारे भारत की बात जाय, इस कलकत्ते ही में देखने की इतनी बातें हैं कि केवल उनको भली भाँति देख लेने से भारतवर्ष की बहुत सी बातों का ज्ञान हो सकता है। माइ लार्ड के शासन के छः साल हालवेल के स्मारक में लाठ बनवाने, ब्लैकहोल का पता लगाने, अखतरलोनी की लाठ को मैदान से उठवा कर वहाँ विक्टोरिया मिमोरियल हाल बनवाने, गवर्नमेण्ट हौस के आस पास अच्छी रोशनी अच्छी फुटपाथ और अच्छी सड़कों का प्रबन्ध कराने में बीत गए। दूसरा दौरा भी वैसे ही कामों में बीत रहा है। सम्भव है कि उसमें भी श्रीमान् के दिलपसन्द अंगरेजी मुहल्लों में कुछ और नयी नयी सड़कें निकल जावें और गवर्नमेण्ट हौस की तरफ के स्वर्ग की सीमा और बढ़ जावे। पर नगर जैसा अँधेरे में

था वैसा ही रहा। क्योंकि उसकी असली दशा देखने के लिए और ही प्रकार की आँखों की जरूरत है। जब तक वह आँखें न होंगी यह अंधेर योंही चला जावेगा। यदि किसी दिन शिवशम्भु शर्मा के साथ माइ लार्ड नगर की दशा देखने चलते तो वह देखते कि इस महानगर की लाखों प्रजा भेड़ों और सूअरों की भाँति सड़े गन्दे झोंपड़ों में पड़ी लोटती है। उनके आस पास सड़ी बदबू और मैले, सड़े पानी के नाले बहते हैं। कीचड़ और कूड़े के ढेर चारों ओर लगे हुए हैं। उनके शरीरों पर मैले-कुचैले, फटे चिथड़े लिपटे हुए हैं। उनमें बहुतों को आजीवन पेट भर अन्न और शरीर ढाँकने को कपड़ा नहीं मिलता। जाड़ों में सर्दी से अकड़कर रह जाते हैं। और गर्मी में सड़कों पर घूमते तथा जहाँ तहाँ पड़ते फिरते हैं। बरसात में सड़े सीले घरों में भीगे पड़े रहते हैं। सारांश यह कि हरेक ऋतु की तीव्रता में सबसे आगे मृत्यु के पथ का यही अनुगमन करते हैं। मौत ही एक है जो उनकी दशा पर दया करके जल्द जल्द उन्हें जीवनरूपी रोग के कष्ट से छुड़ाती है!

परन्तु क्या इनसे भी बढ़कर और दृश्य नहीं हैं? हाँ, हैं। पर जरा और स्थिरता से देखने के हैं। बालू में बिखरी हुई चीनी को हाथी अपने सूँड से नहीं उठा सकता। उसके लिये चिवटी की जिह्वा दरकार है। इसी कलकत्ते में, इसी इमारतों के नगर में माइ लार्ड की प्रजा में हजारों आदमी ऐसे हैं जिनको रहने को सड़ा झोंपड़ा भी नहीं है। गलियों और सड़कों पर घूमते घूमते जहाँ जगह देखते हैं वहीं पड़ रहते हैं। पहरेवाला आकर डंडा लगाता है तो सरककर दूसरी जगह जा पड़ते हैं। बीमार होते हैं तो सड़कों ही पर पड़े पाँव पीटकर मर जाते हैं। कभी आग जलाकर खुले मैदान में पड़े रहते हैं। कभी कभी हलवाइयों की भट्ठियों से चमटकर रात काट देते हैं। नित्य इनकी दो चार लाशें जहाँ तहाँ से पड़ी हुई पुलिस उठाती है। भला माइ लार्ड तक उनकी बात कौन पहुँचावे। दिल्ली दरबार में भी, जहाँ सारे भारत का वैभव एकत्र था, सैकड़ों ऐसे लोग दिल्ली की सड़कों पर पड़े दिखाई देते थे, परन्तु

उनकी ओर देखने वाला कोई न था। यदि माइ लार्ड एक बार इन लोगों को देख पाते तो पूछने को जगह हो जाती कि वह लोग भी ब्रिटिश राज्य के सिटिजन हैं वा नहीं ? यदि हैं तो कृपापूर्वक पता लगाइये कि उनके रहने के स्थान कहाँ हैं और ब्रिटिश राज्य से उनका क्या नाता है। क्या कहकर वह अपने राजा और उसके प्रतिनिधि को सम्बोधन करें ? किन शब्दों में ब्रिटिश राज्य को असीस दें ? क्या यों कहें कि जिस ब्रिटिश राज्य में हम अपनी जन्मभूमि में एक अंगुल भूमि के अधिकारी नहीं, जिसमें हमारे शरीर को फटे चिथड़े भी नहीं जुड़े और न कभी पापी पेट को पूरा अन्न मिला उस राज्य की जय हो ! उसका राजप्रतिनिधि हाथियों का जुलूस निकालकर सबसे बड़े हाथी पर चँवर-छत्र लगाकर निकले और स्वदेश में जाकर प्रजा के सुखी होने का डङ्का बजावे ?

इस देश में करोड़ों प्रजा ऐसी है जिसके लोग जब संध्या-सबेरे किसी स्थान पर एकत्र होते हैं तो महाराजा विक्रम की चर्चा करते हैं, और उन राजा महाराजों की गुणावली वर्णन करते हैं जो प्रजा का दुःख मिटाने और उनके अभावों का पता लगाने के लिये रातों को वेश बदलकर निकला करते थे। अकबर के प्रजापालन की और बीरबर के लोकरञ्जन की कहानियाँ कहकर वह जी बहलाते हैं और समझते हैं कि न्याय और सुख का समय बीत गया। अब वह राजा संसार में उत्पन्न नहीं होते जो प्रजा के सुख दुःख की बातें उनके घरों में आकर पूछ जाते थे। महारानी विक्टोरिया को वह अवश्य जानते हैं कि वह महारानी थीं और अब उनके पुत्र उनकी जगह राजा और इस देश के प्रभु हुए हैं। उनको इस बात की खबर तक भी नहीं कि उनके प्रभु के कोई प्रतिनिधि होते हैं और वही इस देश के शासन के मालिक होते हैं, तथा कभी-कभी इस देश की तीस करोड़ प्रजा का शासन करने का घमण्ड भी करते हैं। अथवा मन चाहे तो इस देश के साथ बिना कोई अच्छा बरताव किये भी यहाँ के लोगों को झूठा, मक्कार आदि कहकर अपनी बड़ाई करते हैं।

इन सब विचारों ने इतनी बात तो शिवशम्भु के जी में भी पक्की कर दी कि अब राजा-प्रजा के मिलकर होली खेलने का समय गया। जो बाकी था वह काश्मीर-नरेश महाराज रणवीरसिंह के साथ समाप्त हो गया। इस देश में उस समय के फिर लौटने की जल्द आशा नहीं। इस देश की प्रजा का अब वह भाग्य नहीं है। साथ ही किसी राजपुरुष का भी ऐसा सौभाग्य नहीं है जो यहाँ की प्रजा के अकिञ्चन प्रेम के प्राप्त करने की परवा करे। माई लार्ड अपने शासनकाल का सुन्दर से सुन्दर सचित्र इतिहास स्वयं लिखवा सकते हैं, वह प्रजा के प्रेम की क्या परवा करेंगे। तो भी इतना संदेश भङ्गड़ शिवशम्भु शर्मा अपने प्रभु तक पहुँचा देना चाहता है कि आपके द्वार पर होली खेलने की आशा करनेवाले एक ब्राह्मण को कुछ नहीं तो कभी-कभी पागल समझ कर ही स्मरण कर लेना। वह आपकी गूँगी प्रजा का एक वकील है, जिसके शिक्षित होकर मुँह खोलने तक आप कुछ करना नहीं चाहते।

पंडित माधवप्रसाद मिश्र

क्षमा

क्षमा धर्म का दूसरा लक्षण है। जो पुरुष धीर होता है, क्षमा भी उसी को ग्रहण करती है। धैर्य के बिना क्षमाशील होना कठिन ही नहीं वरंच असंभव है।

परापराध सहन करने का नाम क्षमा है। जैसा कि बृहस्पति जी कहते हैं—"किसी के दुर्वचन कहने पर या मार देने पर न तो आप क्रोधित होता है और न उसे मारता है उसको क्षमा कहते हैं। उस पुरुष का नाम क्षमाशील है जो दुःखित किये जाने पर भी अचल बना रहे, धर्म-मार्ग से विचलित न हो।"

यों तो संसार में सभी लोग दूसरों के अपराध सहन किया करते हैं। प्रबल पुरुषों से पुनः पुनः तिरस्कृत होने पर भी बिचारे दुर्बल पुरुष कुछ कहने का साहस नहीं करते। क्षमताशाली अत्याचारी पुरुषों से प्रपीड़ित होने पर भी दीन प्रजा बारंबार रोकर चुप रह जाती है, किन्तु यह सहनशीलता क्या क्षमा कही जा सकती है? कभी नहीं। क्योंकि क्षमा नाम उस गुण का है, जिससे शक्तिशाली पुरुष शक्ति रखने पर दूसरे के अपराध क्षमा करें और जो पुरुष कायरता व असामर्थ्य से उस कार्य के करने में स्वभावतः असमर्थ है उसकी क्षमा क्षमा कहलाने योग्य नहीं है।

हाँ, यदि किसी के दुःख पहुँचाने पर उसके अन्तःकरण में अपने शत्रु के प्रति किसी प्रकार का कुभाव, प्रतिकार की इच्छा तक, उत्पन्न न हो और उस कार्य के लिये वह घृणार्ह न समझा जाय, तो वह पुरुष भी निःसन्देह क्षमावान् है। क्योंकि, जिस बात की शक्ति उसमें विद्यमान थी उससे उसने काम नहीं लिया। माना कि वह दीन पुरुष, जिसको हमने अभी धन-मद से मत्त होकर मारा है, रोकर वा चिल्लाकर हमारी कुछ हानि नहीं कर सकता; तो भी क्या वह इस बात के लिये प्रशंसनी-

य नहीं है कि वह रो सकता था, पर रोया नहीं। हमारा बुरा चिन्तन भी कर सकता था, पर उसने वैसा नहीं किया; प्रत्युत उसके चित्त में इसके प्रतिकूल विकार तक न हुआ।

गृहस्थ के लिये क्षमा अत्यावश्यक है—"केवल घर बनाने से कोई गृहस्थ नहीं होता, वरन् क्षमायुक्त होने से गृहस्थ होता है।" यदि गृहस्थ क्षमाशील न हो तो दिन रात उसे कलह करना पड़े और गृहस्थ का सब सुख मिट्टी में मिल जाय। मुकद्दमेबाजी में समस्त धन लुट जाय और फिर कोई कौड़ी को भी न पूछे कि आपका क्या हाल है। इस-लिये नीति-विचारकों ने कहा है जिसके हाथ में क्षमारूपी खड्ग है उस-का दुर्जन क्या कर सकता है।

महाभारत में लिखा है कि वनवास के समय अपनी शोचनीय दशा देखकर वीर-नारी द्रौपदी से चुप न रहा गया। कौरवों से युद्ध करने के लिये महाराज युधिष्ठिर को इस प्रकार के तीव्र वचन सुनाए जिनको सुनकर एकबार तो कायर पुरुष भी अपनी जान पर खेल जाय और आगा-पीछा बिना सोचे युद्ध कर बैठे। किन्तु धर्मपुत्र युधिष्ठिर उन उत्तेजनापूर्ण वचनों को, जो निर्वासिता, तिरस्कृता और सुदुःखिता विदुषी द्रुपदनन्दनी के मुँह से निकले थे, सुनकर कुछ भी क्रोधित न हुए और अनेक प्रकार से क्षमा ही की महिमा दिखाई, जिसका यह तात्पर्य है कि क्षमा से बढ़कर कोई धर्म नहीं, क्षमा ही से यह जगत् ठहरा हुआ है, विवेकी पुरुष को निरन्तर क्षमा ही करनी चाहिये और क्षमावान का लोक और परलोक सब सुधरता है। यह सिद्धान्त जितना बली होता है, उतना ही वह क्षमावान है। गरुड़ पुराण में क्षमाशील पुरुषों में एक ही दोष पाया जाता है, दूसरा नहीं। इस क्षमायुक्त को लोग असमर्थ समझते हैं।

सच है, दुर्जन लोग क्षमावान को अवश्य ही अशक्त मानते हैं। वे समझते हैं, इसने हमारे दोष क्षमा नहीं किए, वरञ्च इसकी ऐसी सामर्थ्य ही नहीं थी जो मुझे दण्ड देता। इसलिये वे उसे बार बार सताते हैं,

खिजलाते हैं और नाना प्रकार के दुःख पहुँचाते हैं। कितने नराधमों को यह कहते देखा है कि ईश्वर कोई चीज़ नहीं है; यदि वह होता तो क्या हमें पापों का दण्ड नहीं देता? पर वे इस बात को नहीं समझते कि यह सब उस कृपालु की अपार दया का फल है कि जो दण्ड देने में विलम्ब कर रहा है।

कभी-कभी पारम से ऐसे भी कार्य हो जाया करते हैं जिनका प्रकारान्तर से होना बहुत ही कठिन है। एक बार आगरे में महात्मा हरिदास जी यमुना से स्नान कर अपने स्थान पर आते थे। मार्ग शाही किला था, जिस पर नव्वाब खानखाना बैठे हुए उनकी ओर घृणा से देखते थे। नव्वाब साहब को यह बात बहुत ही बुरी लगी कि महात्मा अपने शरीर को मुसलमानों के स्पर्श से बचाते आ रहे हैं। इसलिये उन्होंने उनके ऊपर घृणा से थूक दिया और वे इनकी ओर देखकर फिर यमुना की ओर चले गए। थोड़ी देर के बाद नव्वाब ने देखा कि फिर भी वे स्नान कर उसी तरह आते हैं। किले के नीचे आने की देर थी कि फिर इन्होंने उन पर थूका और वे देखकर उसी तरह चुपचाप लौट गए। इस प्रकार वे स्नान कर आते रहे और ये उन पर थूकते रहे। जब ग्यारहवीं बार वे आए तो नव्वाब का भाव बदल गया। उन्होंने सोचा कि चिऊँटी को भी पैर के नीचे दबाने से वह काटती है, परन्तु मनुष्य होकर भी इन्होंने मुझे कुछ भी नहीं कहा। क्या ये मुझे जबान से भी कुछ न कह सकते थे, पर नहीं ये सच्चे खुदादोस्त हैं। इनसे अपने गुनाह माफ करवाने चाहिये। यह सोच ये उनके चरणों में जा गिरे और उनसे अपने अपराधों की क्षमा चाही। स्वामी हरिदास जी प्रसन्न हो गए और उन्होंने उपदेश दे इनको हरिभक्त बनाया। और ऐसा बनाया कि जिसकी भक्ति देखकर हिन्दुओं को भी कहना पड़ा कि "हरिभक्त खानखाना धन्य है।" यदि स्वामी जी उस दिन क्षमा न करते तो आज हम लोगों को खानखाना के भगवद्भक्तिमय सरस श्लोक देखने को न मिलते। इसलिये किसी ने बहुत अच्छा कहा है—मृदुता से मनुष्य कठोर को काट सकता है, और

कोमल को भी काट सकता है। ऐसी कोई वस्तु नहीं जो मृदु से साध्य नहीं। इससे सबसे तीव्र मृदु को समझना चाहिये। मसल है कि ठंढा लोहा गरम को काट सकता है, गरम ठंढे को नहीं।

पंडित श्यामबिहारी मिश्र

हिन्दी का पद्य-साहित्य

पद्य-काव्य की बदौलत भारतीय अन्य भाषाओं में ही नहीं, वरन् सभी देशों की सभी भाषाओं के सामने हिन्दी का सिर ऊँचा है। पराधीन होने पर भी हम लोगों में इतना आत्माभिमान शेष है कि हम अपने यहाँ की सभी वस्तुओं को हीन नहीं समझते, विशेषतया उन विषयों में, जिनमें किसी स्वदेशी पदार्थ की उत्तमता सिद्ध हो सकती है। हम पहले ही कह आए हैं कि जिस शेक्सपियर को अंगरेज़ लोग संसार के साहित्य का मुकुटमणि मानते हैं, उसकी रचनाओं के सामने भी गोस्वामी तुलसी-दास जी की कविता उच्चतर पाई जाती है। इसका सविस्तर विवेचन हमने अपने 'मिश्रबंधु-विनोद' एवं 'हिन्दी-नवरत्न' में किया है। उन्हीं बातों को दोहराकर मैं आप महानुभावों का अमूल्य समय नष्ट नहीं करना चाहता। कारणों के होते हुए यदि हम अपने जटाजूटधारी प्रिय गोस्वामी जी को समस्त संसार में अद्वितीय कवि मानें, तो किसी को उसमें अतिशियोक्ति का भ्रम क्यों होना चाहिये? हमने सांसारिक सभी बड़ाइयों को प्रायः खो दिया है, पर हमारा अद्वितीय साहित्य अब भी हम लोगों का मस्तक ऊँचा किये हुए है। इसकी दृढ़ता प्रमाणित करने के लिये हम उन महानुभावों से, जिन्होंने हमारे उपर्युक्त 'मिश्रबंधु-विनोद' एवं 'हिन्दी-नवरत्न'-नामक ग्रंथों का अवलोकन नहीं किया है, इतना कष्ट उठाने का अनुरोध करेंगे। इसमें सन्देह नहीं कि व्यास, कालिदास, श्रीहर्ष, शेक्सपियर, चासर, मिल्टन, सादी, हाफ़िज़, खाक़ानी, उर्फ़ी, सौदा, मीर, आतिश, पुश्किन, होमर, वर्जिल, तुकाराम, मधुसूदन-दत्त प्रभृति अनेक कविजन संसार में हो गये हैं; पर जहाँ तक हमें ज्ञात हो सका है, इनकी कविता के सामने हिन्दी-कवियों को नीचा नहीं देखना पड़ सकता। तुलसी, सूर, देव, हितहरिवंश, बिहारी, भूषण, केशव,

मतिराम, सेनापति, ग्वाल, ठाकुरदास, पद्माकर, रहीम, दूलह, सेवक, कबीर, चन्द, हरिश्चंद्र, मीराबाई, श्रीधर, रत्नाकर, नरोत्तम इत्यादि हिन्दी के सैकड़ों उत्कृष्ट कवि पड़े हैं, जिनकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। हमारा यह तात्पर्य कदापि नहीं कि इनमें से प्रत्येक अथवा बहुतेरे कवि अन्य भाषाओं के सभी कवियों से बढ़कर हैं, पर तुलसीदास को हम निस्संकोच सभी के ऊपर समझते हैं, एवं कतिपय अन्य हिन्दी कवियों से बढ़कर कवि अन्य भाषाओं में खोज निकालना कठिन काम है। हम यह मानते हैं कि इधर १००-१५० वर्ष से हिन्दी में भारतेंदु के अतिरिक्त परमोच्च कक्षा का प्रायः कोई भी कवि उत्पन्न नहीं हुआ है, पर एक तो थोड़े-से समय का मिलान ५-७ सौ वर्ष से करना उचित नहीं, और दूसरे यह कि आजकल हिन्दी का गद्य-काल है। तो भी थोड़े बहुत चमत्कारी कवि इस समय में भी हो गए, तथा वर्तमान हैं।

हमने सन् १६०० की 'सरस्वती'-पत्रिका में हिन्दी-काव्य आलोचना, शीर्षक एक बड़ा सा लेख लिखा था, जिसमें हम (मिश्रबंधुओं) ने हिन्दी-साहित्य में जो-जो त्रुटियाँ समझ पड़ीं, लिख दी थीं। आज ३२ वर्ष पीछे यदि देखिए, तो विदित होगा कि उनमें से अधिकांश त्रुटियाँ दूर हो गईं; और प्रायः उसी मार्ग पर उन्नति हुई है, जिसका हमने निर्देश किया था। समस्या-पूर्ति-प्रथा की हमने निन्दा की थी, वह अब बहुत ही संकुचित रूप में पाई जाती है, और हमारे निवेदनानुसार अब अधिकांश में समस्याओं के ठौर पर कविजन से निर्धारित विषयों पर कविता करने को कहा जाता है। विद्वानों, शूर-वीरों, कार्य-दक्ष व्यक्तियों तथा सुप्रसिद्ध शासकों की चरितावली अब बहुत कुछ देखने में आती है। 'हिन्दी-शब्द-सागर' नामक एक वृहत् कोश बन चुका है, और अन्य उत्तम कोशों के बनने का आयोजन हो रहा है। कई अच्छे साधारण व्याकरण बन चुके हैं, और मैं दृढ़ता-पूर्वक अभी निवेदन कर चुका हूँ कि उसको आगे बढ़ाना अत्यन्त हानिकर होगा। भारतवर्ष एवं कई अन्य देशों के कतिपय उत्तम इतिहास-ग्रन्थ प्रस्तुत हो गए हैं। भूगोल-ग्रंथों

की कहाँ तक कहें, इस विषय का एक सामयिक पत्र भी प्रकाशित होता है। रसायन, विज्ञान, गणित और दर्शन शास्त्र के अनेक ग्रंथ दृष्टिगोचर होते हैं। स्वचित्र लेखन-कला भी अच्छी उन्नति कर रही है। उधर प्राकृतिक एवं हृदयांतरिक भावों के प्रदर्शक अनेक साहित्य-ग्रन्थ तैयार हो गए हैं, जिनमें प्रसंगानुसार ठौर-ठौर पर सामाजिक कुरीतियों के सुधार तथा सुरीतियों के प्रचार का अनुरोध पाया जाता है। चरित्र-चित्रण की प्रथा भी उन्नति पर है, और समालोचना का समुचित आदर हो चला है, यद्यपि दुर्भाग्यवश अनेक समालोचक कड़े शब्दों एवं गालि-प्रदान तक से अपने लेखों तथा ग्रन्थों को कलुषित करने से कभी-कभी नहीं हिचकते। थोड़ा ही समय हुआ, रायसाहब बाबू श्यामसुन्दरदास जी ने 'हिन्दी-भाषा और साहित्य'-नामक एक उत्तम ग्रन्थ लिखा है, जिससे भाषा-विज्ञान तथा हिन्दी-साहित्य का अच्छा पता लगता है, तथा पं० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' का 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास, भी अति श्लाघ्य ग्रंथ है। अद्भुत और आश्चर्य-जनक घटनाओं से पूर्ण अप्राकृतिक उपन्यासों की अब तादृश भरमार नहीं पाई जाती, यह संतोष की बात है। पहले रीति-ग्रन्थों (अलंकार, नायिका-भेद इत्यादि विषयों के ग्रन्थों) की ऐसी चाल पड़ गई थी कि प्रायः प्रत्येक कवि इन पर दो एक ग्रन्थ लिख डालना आवश्यक समझता था, और बहुतेरे तो इसी को कविता मानते थे, पर यह प्रथा भी अब बहुत कुछ घट गई है। एक प्रकार से कहा जा सकता है कि पदार्थ-निर्णय, भाव-भेद, रस-भेद, नायिका-भेद, पिंगल, अलंकारादि के काव्य-ग्रन्थों का निर्माण होना अब प्रायः बंद-सा हो गया है, और कथाप्रासंगिक, स्वदेश-प्रेमालंकृत कविताओं का प्रचार एवं सम्मान बढ़ चला है, जो आनन्द की बात है। परन्तु कहना ही पड़ता है कि ऐसे ग्रन्थों का अभी प्रचुरता से निर्माण होना नहीं पाया जाता।

एक विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि अब तक काव्य-विषयों की संकीर्णता ही चली आती है; और बहुत करके कविगण उन्हीं शताब्दियों

पुराने विषयों को ही रेतते चले आते हैं, जैसे रामचरित, कृष्ण-कथा, महाभारत के कुछ कथानक (यथा द्रौपदी का चीर-हरण, अभिमन्यु वध, जयद्रथ-वध इत्यादि), और ऊपर से तुर्रा यह कि उनमें कुछ भी नूतनता लाने का प्रयत्न कदाचित् ही पाया जाता है ! राम और कृष्ण अवश्य ही हमारे यहाँ के प्रातः स्मरणीय अवतारी महापुरुष थे, और उनके सद्गुणों का अंत नहीं मिलता, पर "रामचरित जे सुनत अघाहीं, रस बिसेस पावा तिन नाहीं ।" का समय अब नहीं रहा । अब सरस्वती जी को यदि भद्र, प्राकृत जनों के गुणगान में विशेष लगाया जाय, तो कदाचित् वह सिर धुनकर पछताने वाली अपनी पुरानी टेव को छोड़ भी बैठें, एवं विधि-भवन से इस लोक तक आते हुए आने का श्रम नितांत व्यर्थ न मानें । निदान, अब देशोपकारी, देश-प्रेममय, ज्ञान-विवर्द्धक, आधुनिक प्रकार की मनोरंजक कविता करने का समय आ गया है, जो पुरानी लकीर के फकीर ही बने रहने से न देश एवं जाति का उपकार हो सकता है, और न हिंदी-माता ही का । अब तो "रटो निरंतर एक जबान—हिंदी, हिंदू, हिन्दुस्थान," की धूम मचाना ही परम धर्म है । इसी में भलाई है । इसी में स्वर्गीय सुख की प्राप्ति संभव है । इसी ध्वनि को देश व्यापी बना देने ही से कल्याण है । केवल श्रृंगाररस में पड़े रहने, नायिकाओं की "ब्रह्मविचार से भी सूक्ष्म कटि" एवं "बिन्ध्य लगु बाढ़िबो उरोजन को पेख्यो है" इत्यादि बेसिर-पैर के वर्णनों का समय अब सदा के लिये चल बसा !

हिंदी में सैकड़ों हज़ारों प्रकार के छंद हैं, पर बहुधा लोग बहुत थोड़े-से छंदों का ही व्यवहार करते हैं, सो ठीक नहीं । हमारे एक मित्र—विशाल कवि—एक बार 'सरस्वती'-पत्रिका में एक ही छन्दवाली में एक बृहत् कविता को देखकर ऐसे ऊबे कि बोले—"बिरच्यो छन्द राम को रसरा, जो सरसुती पत्र महँ पसरा ।" बीच-बीच में समुचित प्रकार से छन्दों के बदलते रहने से कविता का आनन्द अवश्य बढ़ जाता है, यद्यपि उसमें बहुत द्रुतगति दिखलाना भी ठीक नहीं । छन्दों में तुकान्त तीन

प्रकार के हैं—सम सरि, विषम सरि और कष्ट सरि, हम इन सबों के प्रयोग के पक्ष में हैं। छन्दों में प्रति पंक्ति के अन्त में विश्राम-चिह्न प्रायः हुआ ही करता है, पर इसकी भी कोई आवश्यकता कदापि नहीं है। अंगरेजी में तो इसके विरुद्ध 'रन-ऑन लाइन्स' (विश्राम-चिन्ह-रहित पंक्तियाँ) बड़ी श्लाघ्य मानी गई हैं। तुकान्त के लिये एवं अन्य कारणों से कविजन कभी-कभी शब्दों का अनुचित तोड़-मरोड़ करते हैं, जो अच्छा नहीं कहला सकता। थोड़ी-बहुत पद-मैत्री अच्छी हो सकती है, पर उसका बहुतायत से प्रयोग करना नितान्त अनुचित है। चित्र-काव्य का प्रचार भले ही अब उठ सा गया है। अतिशयोक्ति का व्यवहार कविता में अवश्य ही थोड़ा-बहुत हो सकता है, पर उसे उपहासास्पद कदापि न हो जाने देना चाहिये। अप्राकृतिक एवं असम्भव वर्णन कभी हृदय-ग्राही नहीं हो सकते। किसी विरहिणी की उसाँसों से जाड़े में भी किसी ग्राम के आस-पास लुएँ चलने का वर्णन हमारी समझ में अवश्य उपहास की बात है। अश्लीलता दो प्रकार की होती है—एक शब्दों की और दूसरी अर्थ की। शब्दाश्लीलता तो सत्कवि प्रायः बचाए ही रहते हैं, पर अर्थाश्लीलता के चक्कर में कभी-कभी भारी कवि तक पड़ जाते हैं। इन दोनों को ही एकदम बचाए रहना आवश्यक है। कूट-काव्य को हम प्रशंसनीय नहीं समझते। कविता एक वस्तु है, और पहेलियाँ बुझाना दूसरी ही बात, तथा इसमें कुछ भी अलौकिक आनन्द नहीं आ सकता। प्रायः यही दशा दूर की कौड़ी लाने की है। यों तो कवित्व-शक्ति ईश्वर-प्रदत्त होती है, पर जो मनुष्य पिंगल के नियमों से अपनी रचनाओं को नाप-नापकर लिखेगा, वह वास्तविक कविता कर ही नहीं सकता। सच्चे कवियों की कर्ण-तुला ही पिंगल हुआ करती है।

पर इन सब बातों का तात्पर्य यह नहीं कि "काता और ले दौड़ी।" कोई ग्रन्थ लिखकर उसे तत्काल प्रकाशित कराने का प्रयत्न करने लगना ठीक नहीं; उसे दो-चार बार संशोधन करने से उसकी त्रुटियाँ बहुत कुछ निकल जाती हैं। स्मरण रखना चाहिये कि स्वयं गोस्वामी तुलसीदास

जी ने जगत्-प्रसिद्ध 'रामचरित-मानस' (रामायण) का निर्माण संवत् १६३१ में प्रारम्भ किया, पर प्रायः ४० वर्ष तक उसे अपनी बग़ल में ही दबाये रहे, और १६७० के पीछे सर्व-साधारण को दिखाया। इसी भाँति बिहारी ने हज़ारों दोहे फाड़-फाड़कर फेंक दिये, और केवल ७१५ रख छोड़े, जिन पर उनका सारा यश अवलंबित है।

कवि में जिन-जिन बातों की आवश्यकता है, वे हैं ईश्वरीय देन, काव्य-रीति का पठन, प्राकृतिक एवं मनुष्य-कृत पदार्थों का पैनी दृष्टि से ध्यान-पूर्वक निरीक्षण, अनुभव, विषय का विचार-पूर्वक और समयानुकूल चुनाव, तल्लीनता एवं सहृदयता। इन सब के एकत्रित होने से ही श्रेष्ठ कविता बन सकती है। ऐसे ही कवियों पर देश और जाति को अभिमान हो सकता है। प्रसिद्ध है, अँगरेज़ लोग यहाँ तक कह देते हैं कि हम ब्रिटिश साम्राज्य तक खो देने को तैयार हैं, पर शेक्सपियर को कदापि खोना नहीं चाहते ! क्या इसी भाँति हमें गोस्वामी तुलसीदास पर श्रद्धा नहीं रखनी चाहिये ? ऐसा अब भी है, पर ऐसे विचारों की अधिक उन्नति पूर्णतया वांछनीय है।

भाषा की शुद्धता, वर्णनों की मनोरमता, अलंकारादि का नैसर्गिक प्रयोग, प्राकृतिक एवं हृदय-ग्राही भाव इत्यादि बिना विशेष परिश्रम के सत्कवियों की रचनाओं में आप-ही-आप प्रचुरता से पाए जाते हैं, यह नहीं कि "संख्या करि लीजै अलंकार हैं अधिक यामैं" इत्यादि। इन्हीं एवं ऐसे ही विचारों से हमने अपने 'मिश्रबंधु-विनोद' में कवियों का वर्गीकरण करने का साहस किया है, और नवरत्नों तथा ६-७ अन्य श्रेणियों में—हिन्दी के वर्तमान लेखकों को छोड़, क्योंकि उसमें तो बड़ा ही कोलाहल मच जाता—सभी छोटे-बड़े कवियों का यथायोग्य स्थान नियत करने का प्रयत्न किया है। ऐसा करने में, संभव है हमने अनेक भूलें की हों ; पर जान-बूझकर किसी का स्थान अनुचित रीति से ऊँचा अथवा नीचा करने में हमें क्या लाभ अथवा हानि हो सकती थी ? अधि-कांश हिंदी-प्रेमियों ने हमारे इस प्रयत्न को अच्छा एवं सराहनीय माना,

पर दो-चार आलोचकों ने उसका काफी विरोध किया, और हमसे पूछने लगे कि हमारे पास कविता के गुण-दोष नापनेवाली वह कौन-सी तुला थी, जिसकी सहायता से हमने ऐसा करने का साहस किया, यद्यपि हमने इस तुला का ब्योरेवार वर्णन अपने 'विनोद' की ही भूमिका में पूर्ण रीति से कर दिया था! भला ऐसे सज्जनों को कोई क्या उत्तर दे? कुछ महानुभाव तो यहाँ तक बिगड़े कि हमें बहुतेरी टेढ़ी-सीधी तक सुनाईं, तथा देव और बिहारी की हमारी तुलनात्मक आलोचना पर तो पूरा बखेड़ा ही उपस्थित हो गया, यहाँ तक कि चिरंजीवि कृष्णबिहारी मिश्र को 'देव और बिहारी'-नामक एक प्रसिद्ध ग्रंथ इस पर लिखना पड़ा। हम इस विषय पर इतना ही और निवेदन कर देना चाहते हैं कि न देव जी हमारे कोई रिश्तेदार थे, और न बिहारी जी किसी प्रकार के बैरी। हमने तो निष्पक्ष भाव से दोनों महाकवियों की कविताओं का मिलान करके हमें जैसा कुछ न्याय-संगत समझ पड़ा, लिख दिया। हम यह नहीं कहते कि विद्या-संबंधी वाद-विवाद होने ही न चाहिये। इनका होना सजीवता का एक बड़ा लक्षण है, पर ऐसा करने में किसी को निष्कारण अनुचित पक्षपात का दोषी ठहराना अथवा तू-तू मैं-मैं करना किसी विद्वान् पुरुष को शोभा नहीं देता।

कविता में ओज, माधुर्य और प्रसाद, ये तीन गुण माने गए हैं। अवसर एवं विषय के अनुकूल ये सभी अच्छे लगते हैं, पर प्रसाद गुण प्रायः सभी ठौर पर सुहावना जान पड़ता है, एवं माधुर्य को भी ओज के सामने बहुधा प्रधानता समझी जाती है। अतुकांत कविता संस्कृत, अँगरेजी एवं कतिपय अन्य-देशीय और प्रांतीय भाषाओं में प्रचुरता से पाई जाती है, और हिंदी में भी इसके प्रचार से हमें कुछ हानि प्रतीत नहीं होती। खड़ी बोली में सीतल कवि ने १८वीं शताब्दी में तथा पं० श्रीधर पाठक, बाबू मैथिलीशरण गुप्त एवं कतिपय अन्य कवियों ने हाल में अच्छी कविता की, तथा कर रहे हैं। स्मरण रहे कि कोरी तुकबंदी का नाम कविता कदापि नहीं हो सकता। बिना किसी प्रकार की प्रतिभा के

काव्य कैसा ? मैं तो मानता हूँ कि "लावै उक्ति ना अनूठी, तौ लौं झूठी कविताई है।"

नाटकों के लिये कोई विशेष नियम होने की कुछ भी आवश्यकता नहीं मालूम पड़ती, चाहे वे सुखांत हों अथवा दुःखांत। हाँ, विषय वर्णनीय हो, और उसका वर्णन अच्छी तरह किया जाय। नाटकों में यह ध्यान रखना चाहिये कि उनका अभिनय सुगमता से किया जा सके। एक तो उत्तरीय भारत में शुद्ध हिंदी के नाटकों का अभिनय बहुधा होता ही बहुत कम है। अधिकांश में उर्दू के तथा निम्न श्रेणीवाले हँसी-मजाक के नाटक खेले जाते हैं, जिसका परिणाम हिंदी-नाटककारों के उत्साह को भंग करनेवाला होता है। बंगाल एवं दक्षिणी तथा पश्चिमी भारत में बँगला, मराठी, गुजराती इत्यादि भाषाओं के नाटक अभिनय-मंच पर धूमधाम से खेले जाते हैं, जिससे उनके रचयिताओं का शीघ्र ही यश फैल जाता और उनका उत्साह दिन दूना, रात चौगुना विवर्द्धित होता है। दूसरे, यदि कोई नाटक ऐसा बने, जिसके अभिनय में प्रबंध की अड़चन पड़े, तब उसका खेला जाना असंभव ही समझना चाहिए। नाटक-रचयिताओं को इस बात पर सदैव ध्यान रखना चाहिए। हिंदी-नाटकों की उन्नति में इस अभिनय के प्रायः अभाव के कारण सबसे अधिक अड़चन पड़ी है, और परिणाम यह हुआ कि साहित्य के बहुतेरे अंगों की इतनी परिपूर्णता होते हुए भी हिंदी में अच्छे नाटक-ग्रंथों की संख्या बहुत थोड़ी है। आशा है, नाटक-प्रेमीगण इन बातों पर ध्यान देने की कृपा करेंगे।

पंडित पद्मसिंह शर्मा

हिन्दी, उर्दू या हिन्दोस्तानी

बड़े-बड़े भाषा-विज्ञानवेत्ता विद्वानों की सम्मति है कि उर्दू और हिन्दी में कोई ऐसा भेद नहीं है। उर्दू की उत्पत्ति ब्रजभाषा से हुई है, हिन्दी ने भी उसी से जन्म लिया है, दोनों बोलियाँ बहनें हैं। शुरू-शुरू में हिन्दी-उर्दू एक थीं, लिपि का भेद था। प्राचीन उर्दू कवियों की कविता पढ़िए, मीर तक़ी, सौदा, और सय्यद इन्शा ने ठेठ हिन्दी मुहावरों का इस अधिकता से प्रयोग किया है कि आज-कल के ठेठ हिन्दी-लेखक भी वैसा नहीं करते। आज-कल इस पर विवाद होता है कि हिन्दी और उर्दू बिलकुल जुदा भाषा हैं। उर्दू के बहुत से हिमायती तो हिन्दी का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते, कहते हैं कि हिन्दी नाम की कोई भाषा न पहले थी न अब है। उर्दू के विरोध के लिए कुछ कलहप्रिय हिन्दुओं ने हिन्दी का नया बखेड़ा खड़ा कर दिया है। पर पहले लोग ऐसा न समझते थे। उनके मत में ठेठ हिन्दी ही असली उर्दू थी। उर्दू कविता के बाबा आदम मीर तक़ी एक जगह फर्माते हैं—

"क्या जानूँ लोग कहते हैं किसको 'सुरूरे क़ल्ब'
आया नहीं है लफ्ज यह हिन्दी ज़बाँ के बीच।"

दुनिया की मुसीबतों से मीर साहब हमेशा तंग रहे, उनके दिल का कमल कभी न खिला, यही बात उन्होंने शाइराना ढङ्ग से इस शेर में जाहिर की है, यानी 'सुरूरे क़ल्ब', दिल की खुशी, मेरे लिये एक अजनबी-विदेशी शब्द है, मेरी हिन्दी ज़बान का नहीं, मैं इसके अर्थ (आशय) से अपरिचित हूँ— अर्थात् मेरी कभी सुख से भेंट नहीं हुई।

सय्यद इन्शा ने 'रानी केतकी की कहानी' ठेठ हिन्दी में यह प्रतिज्ञा करके लिखी है—"जिसमें हिन्दी छुट किसी और बोली की पुट न मिले।"

सय्यद इन्शा के बयान में मौलाना आज़ाद ने आबेहयात में इसी कहानी के बारे में लिखा है—

"एक दास्तान नसर उर्दू में ऐसी लिखी है कि एक लफ़्ज़ भी अरबी फारसी का नहीं आने दिया, बावजूद इसके उर्दू के रुतबे से कलाम नहीं गिरा।"

यह बात ध्यान देने लायक है, इन्शा की प्रतिज्ञा के अनुसार जिस कहानी में हिन्दी छुट और किसी बोली की पुट नहीं मिलने पाई, आजाद कहते हैं कि "एक लफ़्ज़ भी उसमें अरबी-फारसी का नहीं आने दिया।" उस कहानी की भाषा आजाद की राय में अच्छी खासी फसीह उर्दू है। "उर्दू के रुतबे से कलाम नहीं गिरा," इसका इसके सिवा और क्या मतलब है कि ठेठ हिन्दी ही असली उर्दू है।

सय्यद इन्शा की इस कहानी की भूमिका से एक बात और भी मालूम हुई कि उस वक्त भाषा या भाखा से हमारी इस वर्तमान खड़ी बोली या हिन्दी-भाषा का ग्रहण नहीं होता था, 'भाखा' से ब्रजभाषा मुराद थी और 'हिन्दी' से खड़ी बोली या उर्दू। इन्शा लिखते हैं—

"हिन्दीपन भी न निकले और भाखापन भी न छुट जाय।"

हिन्दी और उर्दू में भेद की बुनियाद उस वक्त से पड़ी जब से उर्दू में अरबी-फारसी शब्दों का और हिन्दी में संस्कृत के शब्दों का आधिक्य बढ़ा। जिसमें फारसी-अरबी के शब्द अधिक हों वह उर्दू, और जिसमें संस्कृत के शब्दों की भरमार हो वह हिन्दी। इस तरह हिन्दी हिन्दुओं की और उर्दू मुसलमानों की जबान समझी जाने लगी। हिन्दी-लेखक, फारसी-अरबी से हिन्दी में आए हुए शब्दों का, बायकाट करने लगे और उर्दू-लेखक ठेठ हिन्दी या संस्कृत शब्दों का। यह तास्सुब यहाँ तक बढ़ा कि साधारण बोल-चाल की भाषा पर भी इसका असर पड़ने लगा। इस सम्बन्ध की एक घटना मुझे अक्सर याद आ जाती है। एक बार गाँव में कुएँ पर दो मुसलमान लड़कियाँ पानी भर रही थीं, एक की उम्र कोई बारह साल होगी, दूसरी की दस साल। छोटी लड़की ने बड़ी

लड़की से बातों-बातों में कहा—"रात मैंने ऐसा सपना देखा था।" इस पर बड़ी लड़की ने झिड़क कर कहा—"अरी, 'ख्वाब देखा था' कह, 'सपना' हिन्दू देखा करते हैं!" इस घटना के बहुत दिनों बाद हज़रत अकबर का एक पुरमान शेर देखने में आया—

"ऐ बिरहमन! हमारा तेरा है एक आलम,
हम ख्वाब देखते हैं तू देखता है सपना।"

'उर्दू' की जन्मभूमि दिल्ली मानी जाती है। दिल्ली ब्रज-भूमि के समीप है, इसलिये ब्रज-भाषा और खड़ी बोली का जितना असर दिल्ली की उर्दू पर पड़ सका है उतना लखनऊ की शाखावाली उर्दू पर नहीं। लखनऊवालों ने जान-बूझकर प्रयत्नपूर्वक अपनी भाषा में दिल्ली की भाषा से भेद किया है। मौलाना हाली अपने दीवान के मुकद्दमे में लिखते हैं—

"※ ※ ※ जब दिल्ली बिगड़ चुकी और लखनऊ से जमाना मुवाफिक हुआ और दिल्ली के अक्सर शरीफ खानदान और एक आध के सिवा तमाम नामवर शोरा लखनऊ ही में जा रहे और दौलत व सरवत के साथ उलूम कदीमा ने भी एक खास हद तक तरक्की की। उस वक्त नेचरल तौर पर अहले-लखनऊ को जरूर यह ख्याल पैदा हुआ होगा कि जिस तरह दौलत और मन्तिक व फिलसफा वगैरा में हमको फौकियत हासिल है, इसी तरह जबान और लबोलहजे में भी हम दिल्ली से फायक हैं, लेकिन जबान में फौकियत साबित करने के लिये जरूर था कि अपनी और दिल्ली की जबान में कोई अमर माबउल् इम्तियाज पैदा करते। चूँकि मन्तिक व फिलसफा व तिब व इल्मे-कलाम वगैरा की मुमारसत ज्यादा थी, खुद-बखुद तबीयतें इस बात की मुकतजी हुईं कि बोलचाल में हिन्दी अलफाज रफ्ता-रफ्ता तर्क और उनकी जगह अरबी अलफाज कसरत में दाखिल होने लगे, यहाँ तक कि सीधी-सादी उर्दू उमरा और अहले इल्म की सोसायटी में मतरूक ही नहीं की गई, बल्कि जैसा सकात से (मौतबिर लोगों से) सुन गया है, मायूब और

बाजारियों की गुफ्तगू समझी जाने लगी और यही रंग रफ्ता-रफ्ता नज्म और नसर पर भी गालिब आ गया।"

यह तो पुरानी बात हुई, जब लखनऊवालों ने दिल्ली की उर्दू से अपनी उर्दू की शान बढ़ाई थी; आज-कल के मुसलिम उर्दू लेखकों ने इस कला में और भी कमाल कर दिखाया है। इनके मुसलिम पत्रों ने तो विदेशी भावों और शब्दों के प्रचार का ठेका ही ले रक्खा है। उन्हें पढ़ते हैं तो मालूम होता है कि भारत के नहीं, अरब, फारिस या टर्की के पत्र पढ़ रहे हैं। उर्दू-भाषा को क्लिष्ट और भ्रष्ट करने में मुसलिम-पत्र) और उनकी देखा-देखी कुछ हिन्दू उर्दू पत्र भी) एक दूसरे के बढ़े जा रहे हैं। उर्दू में जो शब्द प्रचलित हो चुके थे उनकी जगह भी ढूँढ़-ढूँढ़कर विदेशी अरबी-टर्की के शब्द भरती किये जा रहे हैं— 'एडीटर' और 'एडीटरी' के स्थान में 'मुदीर' और 'इदारत' लिखा जाता है, बायकाट या बहिष्कार की जगह 'मकातअ' को मिली है, असहयोग से 'तर्क-मवालात' हो ही चुका है! किसी भी मुस्लिम-पत्र को देखिए, दर्जनों शब्द नये और अप्रचलित मिलेंगे, जिन्हें सर्वसाधारण तो क्या, पढ़े-लिखे मुसलमान पाठक भी कठिनता से समझते हैं और नहीं भी समझते। एक मुसलमान समालोचक के कथनानुसार—

"वह एक नयी उर्दू का इन्तजाम कर रहे हैं जिसको उनकी औलाद भी महफूज नहीं रख सकती।"

इस तरह यह मुस्लिम पत्र हिन्दी ही से नहीं, उर्दू से भी उर्दू को अलग करने में दिनों-दिन बड़ी मुस्तैदी से लगे हैं। वह खालिस मुसलिम संस्कृति के प्रचारक हैं, भारतीयता से उनका इतना ही वास्ता है कि भारत में प्रकाशित होते हैं और बस। हिन्दी-पत्रों में उर्दू और फारसी साहित्य पर बराबर लेख निकलते हैं, उर्दू-कविताएँ उद्धृत होती हैं। हिन्दी में प्राचीन और नवीन उर्दू-काव्यों का सार-संग्रह प्रकाशित होता है, पर उर्दू-मासिक-पत्रों में हिन्दी या संस्कृत-साहित्य की चर्चा तक नहीं की जाती, इतने पर भी सारा दोष हिन्दुओं और हिन्दी-पत्रों के ही

सिर मढ़ा जाता है ! 'जमाने' के जुबली-नंबर की आलोचना करते हुए, गोरखपुर के मुसलिम-पत्र 'मशरिक' ने टिप्पनी चढ़ाई है—

"हम उन सखुनसंज व सखुनशनाश हिन्दू असहाब के शुक्रगुजार हैं जो बावजूद मालवी-परस्ती और हिन्दू-सभा के इक्तदार के उर्दू अदब के शैदा और हिन्दु-मुसलिम इत्तहाद के सच्चे आशिक नजर आते हैं ।"

'मशरिक' के सम्पादक को इस पर सन्तोष नहीं है कि एक हिन्दू ने उर्दू-साहित्य की इतनी सेवा की है, जितनी किसी मुसलमान लेखक ने भी नहीं की, वह चाहता है कि सब हिन्दू इसी तरह उर्दू ही के प्रचार में लग जायँ, वह मुसलमान भाइयों से यह अनुरोध नहीं करता कि वह भी हिन्दी की ऐसी ही सेवा करें जैसे हिन्दू उर्दू की करते हैं । यदि हिन्दू अपनी संस्कृति की रक्षा और अपने साहित्य का प्रचार करते हैं तो 'मालवी-परस्ती' में मुब्तला हैं ! एकता के विरोधी हैं ! कैसा विचित्र और निष्पक्ष न्याय है ! अतुलनीय तर्क है !

'हिन्दोस्तानी'

हिन्दी और उर्दू के विवाद-वृक्ष में एक नयी शाखा फूटी है, एक नवीन आन्दोलन उठा है । हिन्दू-मुसलमानों को हिन्दी और उर्दू के लिए लड़ता देखकर दिल्ली की एकता परिषद् में लीडरों ने फतवा दिया है—भाषा का नया नामकरण संस्कार किया है—कि न हिन्दी कहो न उर्दू, दोनों का एक नाम हो, 'हिन्दोस्तानी' । अच्छी बात है, पर इससे क्या यह विवाद शान्त हो जायगा ? पञ्चों का कहा सिर माथे पर, पर परनाला तो वहीं बहेगा ! भोले भाले हिंदू भाई भले ही मान जायँ, पर क्या मुसलमान भाई इसे स्वीकार करेंगे ? जब वह सदियों से प्रचलित उस हिन्दी नाम का विरोध करते हैं जिसे मीर तकी, इन्शा और आजाद जैसे मुसलिम विद्वानों ने उचित समझकर प्रयुक्त किया है, फिर वह उर्दू की जगह 'हिन्दोस्तानी' को कैसे दे देंगे ! आखिर 'हिन्दी' नाम भी तो हिन्दुओं का रक्खा हुआ नहीं है, भारत की राष्ट्र-भाषा का यह नाम तो मुसल-

मानों ने ही रक्खा था। बहुत-से हिन्दू विद्वान् इस नाम के विरोधी थे; वह इसको जगह देवनागरी भाषा या 'आर्य-भाषा' कहना पसन्द करते थे। आर्य-समाज ने तो हिन्दी नाम का बहुत दिनों तक विरोध किया था, पर अब उसने भी समझौते के ख्याल से इसे स्वीकार कर लिया है। 'हिन्दोस्तानी, नाम तो हमारे शासकों के दिमाग की उपज है, इसकी अनुपादेयता में यही एक कारण पर्याप्त है। यदि यह नया नाम दो जातियों की एकता का साधन होता तो वह इसे पसन्द करके अपनी ओर से क्यों पेश करते! आश्चर्य है, यह मोटी बात एकता-परिषद्वाले महानुभावों को क्यों न सूझी! सच है—

"योरपवाले जो चाहें दिल में भर दें,
जिसके सर पै जो चाहें तोहमत धर दें।
बचते रहो इनकी तेजियों से 'अकबर
तुम क्या हो खुदा के तीन टुकड़े कर दें।"

गवर्नमेंट ने अपनी भेद-नीति का परिचय इसी प्रकार अनेक बार दिया है, मनुष्य-गणना में नये-नये कल्पित नामों से अनेक जातियाँ खड़ी कर दी हैं। 'हिन्दोस्तानी' नाम से हिन्दी-उर्दू का भेद दूर न होगा, बल्कि एक तीसरी भाषा और उत्पन्न हो जायगी। जिसे 'सरकारी बोली' कहना उचित होगा। 'स्टैंडर्ड टाइम' की तरह गवर्नमेंट स्टैंडर्ड भाषा भी प्रचलित करना चाहती है, यह इसी का सूत्रपात है। यदि यह चाल चल गई तो हिन्दी-उर्दू साहित्य का सर्वसंहार हो जायगा। 'उर्दू हिन्दी दोनों बहक सरकार जब्त' हो जायँगी। यह नया नाम किसी प्रकार स्वीकार करने योग्य नहीं है, इस प्रस्ताव का प्रतिवाद होना चाहिये। 'हिन्दी' जैसे व्यापक और प्रचलित नाम को छोड़कर, जिसके प्रयोग से समस्त साहित्य भरा पड़ा है, जो अनेक संस्थाओं के नामों में इस प्रकार सम्मिलित हो चुका है कि पृथक् नहीं किया जा सकता, एक नया और सन्दिग्ध नाम ग्रहण करना नितान्त अनुचित है। 'हिन्दी' कहने से केवल हिन्दी भाषा ही का बोध होता है। 'हिन्दोस्तानी' में यह बात

नहीं है, इसके साथ जब तक 'भाषा' 'जबान' या 'बोली' शब्द न जोड़ा जायगा, काम न चलेगा, अन्धे को न्यौतकर दो जने बुलाने पड़ेंगे !

विहार में उर्दू का विवाद

विहार में जो हिन्दी-उर्दू का आन्दोलन उठा है, इसमें भी गुप्त रूप से गवर्नमेंट की भेद-नीति काम कर रही है। मुसलमान भाई ज़रा शान्तचित्त होकर इस पर विचार करें, तो उन्हें मालूम हो जायगा कि इससे लाभ के बदले हानि ही होगी। यदि विहार में यह आन्दोलन सफल हो गया, तो पंजाब और सिन्ध में हिन्दी और नागरी-लिपि के लिये आन्दोलन प्रारम्भ होगा, जहाँ इस समय उर्दू का साम्राज्य है। विहार में तो मुसलमानों को उर्दू पढ़ने की स्वतन्त्रता पहले ही से है। अदालतों की भाषा भी उर्दू ही है, सिर्फ लिपि नागरी है। इससे अच्छा समझौता और क्या होगा ! पंजाब और सिन्ध में तो इतना सुभीता भी नहीं कि हिन्दू अपने बच्चों को सरकारी स्कूलों में हिन्दी पढ़ा सकें। वहाँ तो 'श्रीमान्' और 'निवेदन' शब्दों के प्रयोग पर भी आपत्ति की जाती है ! यदि विहार में अल्पसंख्यक मुसलमानों को यह अधिकार मिलना न्यायसंगत समझा जाता है, तो फिर सिन्ध और पंजाब में हिन्दुओं को यही अधिकार क्यों न दिया जाय ? पञ्जाब में हिन्दुओं के सब पत्र उर्दू में ही निकलते हैं। क्या विहार के मुसलमान भाई उसी अनुपात से विहार में हिन्दी-पत्र निकालने को तैयार हैं ?

साहित्य-सम्मेलन की स्वागत समिति के मन्त्री महोदय ने मुझे सूचना दी थी कि सभापति के भाषण में हिन्दी-उर्दू के नये विवाद पर भी (जो विहार में इस समय चल रहा है) कुछ अवश्य कहा जाय। इस आवश्यक विषय पर प्रकाश डालने का मेरा विचार स्वयं भी था। इसके लिये उन्होंने 'देश' में इस विषय पर प्रकाशित लेखमाला पढ़ने की सम्मति भी दी। तदनुसार मैंने अपने विद्वान् मित्र प्रोफेसर बदरी-नाथ वर्मा (एम० ए०, काव्यतीर्थ) 'देश'-सम्पादक को 'देश' से वह अङ्क भेजने के लिये लिखा। उन्होंने ढूँढ़-भालकर वह अङ्क भी भेजे और

बिहार-प्रान्तीय साहित्य-सम्मेलन के सभापति के पद से दिये हुये अपने सुन्दर भाषण की कापी भेजने की भी कृपा की। मैंने उस लेखमाला और भाषण को पढ़ा, तो मुझे वह बहुत ही महत्वपूर्ण और पठनीय प्रतीत हुआ। हिन्दीभाषा और देवनागरी-लिपि पर इतना विशद विवेचन हिंदी में किसी एक जगह देखने में नहीं आया। विद्वान् लेखक ने भाषा और लिपि के प्रश्न की चतुरस्र मीमांसा बड़ी योग्यता से की है। इस विषय पर इससे कम कहने से काम नहीं चल सकता था। इस कारण मैंने अपने भाषण में विस्तार से कहने का विचार छोड़ दिया। व्यर्थ पिष्ट-पेषण होता। कोई बात इस सम्बन्ध में कहने को बाकी नहीं रही थी। मुझे इतना अवकाश और समय भी न था। मैंने वर्मा जी से अनुरोध किया कि यह लेखमाला पुस्तकाकार प्रकाशित करके सम्मेलन के अधिवेशन पर वितीर्ण की जाय, तो भाषा और लिपि की कठिन समस्या को सुलझाने में सुगमता होगी। हर्ष की बात है कि वर्मा जी ने मेरी बात मान ली—वह लेखमाला पुस्तकाकार प्रकाशित कर दी। सम्भव है, उसके किसी अंश पर किसी को मतभेद हो; पर विवेचना बड़ी सहृदयता और व्यापक दृष्टि से की गई है। समझौते की कोई बात सुझाने से रह नहीं गई है। राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि के बारे में किसी को कुछ कहने की गुंजाइश नहीं छोड़ी है। मेरा अनुरोध है कि प्रत्येक हिंदी-हितैषी और देशभक्त उसे ध्यान से पढ़ें और राष्ट्र-भाषा तथा राष्ट्र-लिपि के इस विवाद को (जो दुर्भाग्य से इस समय विशेष रूप से बिहार में चल रहा है) समुचित रूप से शान्त करने में सहायक हों।

हमारे मुसलमान भाइयों को यह भ्रम हो गया है कि हिंदू उर्दू का विरोध करने के लिये ही हिंदी का प्रचार कर रहे हैं। उन्हें जानना चाहिये कि आज भी लाखों हिंदू उर्दू पढ़ते लिखते हैं। हिंदुओं ने उर्दू की सेवा मुसलमानों से कम नहीं की। उर्दू का सर्वश्रेष्ठ मासिकपत्र 'ज़माना' एक हिन्दू विद्वान् की सम्पादकता ही में निकलता है। हिंदुओं

में आज भी मुंशी सूर्यनारायण साहब 'महर' और पं० ब्रजमोहन दत्तात्रेय 'कैफी' और 'बिस्मिल' जैसे उर्दू के महाकवि मौजूद हैं। दूर जाने की क्या जरूरत है, आपके इस मुजफ्फरपुर में ही श्रीयुत प्रोफेसर अवधविहारी-सिंह जी अरबी-फारसी के पारदर्शी विद्वान् वर्तमान हैं, जिनके जोड़ के विद्वान् मुसलमानों में भी दो-चार ही निकलेंगे! क्या मुसलमान भाई बतलाते हैं कि उनमें संस्कृत और हिंदी के कितने पण्डित हैं? कितने कवि और लेखक हैं, वह हिंदी की कितनी सेवा कर रहे हैं? भारत के करोड़ों मुसलमानों में श्रीयुत 'मीर', मूनिस और जहूरबख्श के सिवा हिन्दी-सेवा के लिये और कितने सज्जनों के नाम लिये जा सकते हैं! मैं मुसलमान भाइयों पर ही इसका इन्साफ छोड़ता हूँ और उनसे पूछता हूँ—

"तुम्हें तकसीर मेरी है कि मुसलिम की खता लगती,
मुसलमानो? जरा इन्साफ से कहना खुदा लगती।"

अपने मुसलमान भाइयों का ध्यान, महाकवि अकबर की इस सार-गर्भित और तथ्यपूर्ण उक्ति की ओर दिलाता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि वह इस सचाई को समझें—

"हिन्दू व मुस्लिम एक हैं दोनों,
यानी यह दोनों एशियाई हैं,
हम-वतन, हम-जबाँ, व हम-किस्मत,
क्यों न कह दूँ कि भाई-भाई हैं।"

बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन

साहित्य-कानन

हिन्दी-साहित्य भी संसार-साहित्य का एक अंग है। वही हमारे समीप और हमारा विहार-स्थल है। चिर-परिचय के कारण उसके अनेक स्थल हमें अति प्रिय हैं, और हमारे जीवन में समय-समय पर हमें शीतलता देते रहते हैं। यहाँ सभी प्रकार के चित्र-विचित्र वृक्ष हैं, और कुछ तो ऐसे हैं कि यदि आपको इस हिन्दी के अंश के अतिरिक्त साहित्य-वन के अन्य अंशों में घूमने का सौभाग्य हो तो वहाँ भी उनकी तुलना न हो सकेगी। अहह ? क्या सुन्दर समूह है ? एक ओर कबीर, मीरा, दादू सुन्दरदास की वाणी-समूह गूँज रही है। आइए, दिव्य दृष्टि की भिक्षा लेकर थोड़ी देर के लिये तो आइए। देखिए, कितने भक्तजनों के वृन्द इन वाणियों के साथ में स्वर मिला इस दैवी गान को कितना विशाल बना रहे हैं! क्यों आपको भी कुछ सुनाई पड़ रहा है ? ध्यानावस्थित होइए, तभी सुन पड़ेगा; अथवा आपका ध्यान कुछ दूसरे ही स्वरों पर मुग्ध है, जो देव, बिहारी, मतिराम, सेनापति, पद्माकर, ठाकुर पजनेश के समूह से आ रहे हैं ? इन स्वरों में भी अद्भुत आकर्षण है। वधिक वीणा के समान हमारे मन-मृग को स्तम्भित कर घसीटे लिये जा रहे हैं, किन्तु रोकिए, अपने को सम्हालिए, अभी दूसरी ओर की दैवी-वाणी का आनन्द आपने समझा ही नहीं। यदि आप कबीर और सूर के समूहों की ध्वनि में मस्त नहीं हो सकते, तो भी अपने को देव और मतिराम के स्वरों में भुला न दीजिए। इधर भी क्या आपकी दृष्टि पड़ी ? देखिए, भूषण, लाल और सूदन का कैसा गंभीर रणनाद हो रहा है! क्यों, क्या इससे आप भयभीत हो रहे हैं! बहुत दिनों से आप इधर आए ही नहीं। इस नाद में क्या ही आनन्द है! यह नाद है तो कर्कश, किन्तु इसमें भी अद्भुत आनन्द है। मैं देखता हूँ,

आप बराबर देव और मतिराम ही की ओर झुकते हैं। बहुत पुराना अभ्यास पड़ गया है। आपने तो इस साहित्य-वन में, जान पड़ता है, केवल इन्हीं के स्वरों में आनन्द लेना सीखा है। किन्तु अभी आपने इस वन के उत्तुङ्ग गगनस्पर्शी वृक्षों के दर्शन ही नहीं किए, अथवा उधर आँख गई भी तो उनकी स्थिति को पहचान ही न सके। अच्छा, दूसरी ओर देखिए। रहिमन, वृन्द, गिरिधर इनकी तो सूक्तियाँ आपको अवश्य रिझा सकती हैं। ओहो! किधर-किधर देखें, चारों ओर रँगीलापन, माधुर्य और आनन्द ही तो दिखाई पड़ता है। हम तो चलते-चलते थोड़ी दूर चले गये थे, यहाँ तो हमारे पास ही हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण, पूर्ण और सत्यनारायण अपनी मस्तानी तान सुना रहे हैं। क्यों, थोड़ी देर बैठ क्यों न जाँय! वाह-वाह! यह तो कुछ एक और ही गुल खिल गया। हमारे साथ ही भ्रमण करने वाले मित्रों ने इस साहित्य-वन में प्रतिभान्वित हो कैसा मनोहरण और ओजस्वी गान आरम्भ कर दिया! पूज्य पाठक जी को इस बाग का एक उजड़ा हुआ कोना ही पसन्द है। वहीं एकान्त में बैठे हुए, वह भारतगीति से श्रोताओं का मनोविनोद कर रहे हैं। श्रद्धेय अयोध्यासिंह जी हमसे कुछ अलग ही हटकर अपने प्रवासी प्रियतम की खोज में करुण-नाद कर हमारे चित्त को विह्वल कर रहे हैं। पास ही शंकर जी अपने डमरु के स्वरों के साथ संसार की जितनी कुरीतियाँ हैं, उनको भस्म करने के लिये अपना तीसरा नेत्र खोले नृत्य कर रहे हैं। साधारण आदमी तो, इनके पास जाते भयभीत होता है, किन्तु पास से देखिए तो, इस तेजस्विता में भी सहृदयता और कोमलता है। और पास दीन जी सूक्ति-सर में लीन हो रहे हैं, और वियोगी हरि जी अपने प्रियतम के वियोग दुखी, करुण-स्वर में उसका गान करते हुए अष्टछाप के कवियों की याद दिलाते हैं! किन्तु हैं! यह क्या ध्वनि आई। यह तो बिलकुल ही विचित्र है। यह तो किसी नयी रागिनी की उत्पत्ति जान पड़ती है। वाह! इसमें तो अधिकतर हमारे निजी मित्रगण ही सम्मिलित हैं। एक ओर मैथिलीशरण जी भारत-

भारती की आरती उतार रहे हैं। इसी समूह में दूसरी ओर रामनरेश ईश्वर से भारतवर्ष में ऐसे पथिक भेजने की प्रार्थना कर रहे हैं जो केवल अपने सतोगुण से, बिना रजोगुण और तमोगुण का सहारा लिये, भारत का उद्धार करें। ईश्वर ने तो अपनी प्रकृति में तीनों गुणों का ही मिश्रण किया है और इस पृथ्वीस्थल को तो, जान पड़ता है, रजोगुण-व्याप्त ही बनाया है! वह त्रिपाठी जी के गान से मोहित हो कहाँ तक अपने नियमों को बदल देगा, इसका मुझे कौतूहल है। तो भी तान तो अद्भुत ही छेड़ी। इन्हीं मित्रों के पास माखनलाल जी भारतीय आत्मा की करुण और ओज-भरी माया से और त्रिशूल जी अपने प्रबल शब्द का सहारा दे सोई जनता को जगाने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसी प्रयत्न में माधव शुक्ल जी भी उनका साथ दे रहे हैं। भारतवर्ष के नवयुवक आज इसी गान को ध्यान से सुन रहे हैं। किन्तु कुछ चुप से हैं। मैं तो ध्यान लगाये आसरा देख रहा हूँ कि वे कब इसी गान के स्वर में स्वयं स्वर मिलाकर स्वतंत्रता देवी की उपासना करेंगे।

यहाँ का तो विचित्र दृश्य है। इस वन में तो चारों ओर जीवित वाणियाँ हैं। किधर देखें, किधर सुनें—यहाँ तो आनन्द से नाचने को जी चाहता है।

किन्तु वाह! इस वन के एक अंश पर तो मेरा ध्यान ही नहीं गया। वहाँ तो गान करने वालों के अतिरिक्त गंभीर विचारों में लीन अपने ओजस्वी शब्दों में शिक्षा देने वाले अथवा भाषा का अन्वेषण तथा प्राचीन इतिहास का वर्णन करने वाले विद्वज्जन विराजमान हैं। कुछ विद्वज्जन ऐसे भी हैं, जो इस साहित्य-वन के गान का आनन्द उठाते हुए इसी की कथा औरों को भी सुना रहे हैं। यहाँ शिवसिंह सेंगर, लल्लूलाल, राजा शिवप्रसाद, बालकृष्ण भट्ट, तोताराम, सुधाकर द्विवेदी, अम्बिकादत्त व्यास, राधाकृष्ण दास, आदि प्रतिभाशाली व्याख्याता गंभीर, किन्तु आनन्दपूर्ण, भाव से उपस्थित हैं। निकट ही श्रद्धेय महावीरप्रसाद द्विवेदी, गोविंद-

नारायण मिश्र और राधाचरण गोस्वामी के दर्शन हो रहे हैं! अहा! द्विवेदी जी किस प्रकार गंभीर शब्दों से सरस्वती का आह्वान कर हिन्दी-भाषी युवक मंडली को उनके दर्शन करने का निमंत्रण दे रहे हैं! और भी पास मिश्रबन्धु इस वन के अन्वेषण की कथा सुना-सुना लोगों को यहाँ भ्रमण करने के लिये प्रोत्साहित कर रहे हैं, और मेरे मित्र रामदास गौड़ समस्त ब्रह्मांड के वैज्ञानिक रूप का दिग्दर्शन करा रहे हैं। समीप ही जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, कामताप्रसाद गुरु, अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी इस साहित्य-वन की रचना-शैली पर आश्चर्य के साथ विचार कर रहे हैं। यहीं माधवराव सप्रे, अमृतलाल चक्रवर्ती इस महावन के अन्य अंशों का फोटो लिए हिन्दी-भाषियों को दिखा रहे हैं। वाह! यहाँ तो मित्रवर श्यामसुंदरदास जी भी आ गए। आपको इस वन के दर्शन-मात्र के आनन्द से ही तृप्ति नहीं हुई, वरन् यहाँ के न केवल इस हिन्दी-अंश का किन्तु अंग्रेजी अंश का भी आलोचना हैं कर आप ओजस्वी शब्दों में अपने मत की व्याख्या कर रहे हैं। यह तो आज एक और नया आनन्द हुआ। पद्मसिंह भी यहाँ आ विराजे। आप तो बिहारी पर लट्टू हो रहे हैं। बिहारी का इसी वन में गान सुनते सुनते, जान पड़ता है, आपको यह भ्रम हो गया कि बिहारी की वाणी की शक्ति कुछ क्षीण हो गई। इसीलिये आप तुरन्त दौड़कर संजीवनी बूटी लेकर आए हैं, और स्वयं भी बिहारी की तान पर ताल देकर उसको अधिक रोचक रूप में दरसाने का प्रयत्न कर रहे हैं। किन्तु वाह! आपने कैसी गूँज डाल दी! लोग तो एक क्षण के लिये इस रागिनी को भी भूल साजिन्दे के बाजे को सुन रहे हैं! धन्य है वह साजिन्दा। उसका आज सत्कार उचित ही है।

इस वन का, आज दौड़ा-दौड़ में, अणुमात्र को ही सही, दर्शन तो हो गया। बहुत सी माधुर्य-पूर्ण कुंजों और बहुत से गंभीर व्याख्यातायों के आश्रमों में तो मेरी आँख भी नहीं गई। इस भागा-भाग में देख ही क्या सकता था? पर जो संसारी झंझटों से अच्छा अवकाश मिलने पर

ही संतोष के साथ हो सकता था। किन्तु मुझ ऐसे बीच में पड़े हुए मनुष्य को क्षणमात्र का भी दर्शन बहुत है। इसके पास आकर चित्त तो यही है कि यहीं लता-कुञ्जों में घूमता रहूँ और यहाँ के गंभीर देवीगीत तथा शिक्षाप्रद सदुपदेश सुना करूँ। सब समूहों को देख कर भी बार बार कबीर और दादू, सूर और तुलसी—इन्हीं के अलौकिक नाद सुनने को जी चाहता है। मुझे तो इनके ओजस्वी नाद के समान न केवल वन के इस अंश में, किंतु अन्य अंशों में भी, जिनका किसी समय में अवलोकन किया है, कोई सुनाई न दिया। और फिर कबीर का तो कहना ही क्या! अन्य कवि तो सांसारिक बातों की चर्चा करते हैं। शब्दचातुरी और स्वकल्पित रस-माधुरी में मुग्ध होते हैं अथवा कुछ ऊपर की कहते हैं तो सुनी सुनाई, किन्तु कबीर के नाद को तो सुनते-सुनते यह जान पड़ता है कि आँख के देखे हुए रहस्य की कोई वार्ता कर रहा है। एक बार इस वन के दूसरे अंश में मौलाना रूम के दर्शन हुए थे। उनके ज्ञान से भी मैं दङ्ग हो गया था, क्योंकि उस ओर की वन-वीथियाँ मेरी अधिक परिचितत न थीं और न वहाँ उस प्रकार के गान सुनने की कभी मुझे आशा थी, किन्तु मौलाना रूम के 'नय' के स्वरों ने मुझे अपने पूर्व-परिचित कबीर की आकाश से उतरी हुई ध्वनि की याद दिला दी थी। आपका झुकाव कदाचित् किसी और ही तरफ है। खैर जाने दीजिये। आप तो मुझसे हर तरह श्रेष्ठ हैं और भाग्यवान हैं कि आप इस आनन्द-कानन में विहार तो करते रहते हैं। मेरे तो भाग्य में इस आनन्द का बहुत ही कम अंश लिखा है। इस समय भी अपने को भूल कर सुचित हो सैर नहीं कर सकता।

पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयी

गद्यकाव्य में संगीत

हिन्दी में संस्कृत की तरह गद्यकाव्य लिखने की परिपाटी प्रायः नहीं है। आजकल हिन्दी में 'गद्यकाव्य' के नाम से जिन पुस्तकों का उल्लेख किया जाता है, उनको भावना-प्रधान गद्यकाव्य आप भले ही कह लीजिये। परन्तु गद्यकाव्य का केवल इतना ही उद्देश्य नहीं है कि वह पाठक या श्रोता के हृदय में सिर्फ भाव की जागृति मात्र कर दे; और सो भी मामूली शब्दों के द्वारा। सोचने की बात है कि जब तक भाषा में लालित्य नहीं होगा, शब्दों में शक्ति नहीं होगी, तब तक उससे भाव-जागृति भी कैसे हो सकेगी। फिर भावजागृति के साथ ही साथ हृदय में भावोत्कर्ष भी होना चाहिये। जिस विषय को हम पढ़ या सुन रहे हैं, उसमें रस आना चाहिए। पद-पद पर आगे पढ़ने सुनने का चाव बढ़ना चाहिये। भाषा और भावों की रमणीयता तो यही है कि क्षण-क्षण पर उसमें नवीन रुचि का विकास होता जाय। सारांश यह कि भावों का उद्दीपन और उत्कर्षण करने में शब्दों की शक्ति, और उनकी योजना-चातुरी को हम उपेक्षा नहीं कर सकते। सुन्दर ढङ्ग से लिखा हुआ एक ही सुन्दर शब्द कभी कभी न जाने क्या काम कर जाता है। महाकवि टेनिसन ने कहा है कि "कभी-कभी एक ही मधुर शब्द में सारी कलाओं का सौन्दर्य उमड़ पड़ता है।" इसलिये हमारे शब्दों में जब 'राग' उत्पन्न होगा, तभी हम भावों की तह तक पहुँच सकेंगे। इससे हमारा यह मतलब नहीं है कि आप पूरा-पूरा संस्कृत गद्यकाव्य का ही अनुकरण करके हिन्दी गद्य को भी उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, श्लेष, इत्यादि अलंकारों से लाद दें। और ऐसा करना वर्तमान समय में अभीष्ट भी नहीं है। क्योंकि वर्तमान युग भावप्रधान नहीं है, बल्कि विचार-प्रधान है। फिर भी, सादी भाषा और सरल शब्दों में अति-मधुर राग और लय, तथा

मनोहारी अर्थ की ध्वनि गद्य में प्रकट की जा सकती है। हिन्दी गद्य के अर्वाचीन लेखकों में हम राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द की भाषा, गद्य-काव्य के लिए, आदर्श-रूप मान सकते हैं। राजा साहब के गद्य में संगीत का प्रवाह अव्याहत गति से बढ़ रहा है। देखिए—

काश्मीर की वनश्री

"दरख्त सायादार और मेवों के इस इफरात से हैं कि सारे इलाके को, क्या पहाड़ और क्या मैदान, एक बाग हमेशा बहार कहना चाहिये। कोई ऐसी जगह नहीं जो सब्जे और फूलों से खाली हो—सब्जा कैसा मानो अभी इस पर मेह बरस गया है; पर जमीन ऐसी सूखी कि उस पर बेशक बैठिये, सोइए, मजाल क्या जो कपड़े में कहीं दाग लग जावे। न काँटा है, न कीड़ा मकोड़ा, न साँप बिच्छू का वहाँ डर है, न शेर हाथी के से मूजी जानवरों का घर। जहाँ बनफशा गाय भैंसों के चरने में आता है, भला वहाँ के सब्जा-जारों का क्या कहना! मानो पथिकजनों के आराम के लिये किसी ने सब्ज मखमल का बिछौना बिछा रखा है; और उनके बीच लाल पीले सफेद सैकड़ों किस्म के फूल इस रंग-रूप से खिले रहते हैं कि जी नहीं चाहता जो उन पर से निगाह उठाकर किसी दूसरी तरफ डालें। कहीं नर्गिस है और कहीं सोसन, कहीं लाला है और कहीं नस्तरन। गुलाब का जंगल चंबेली का बन। मकान की छतें वहाँ तमाम मिट्टी की बनी हैं। बहार के मौसिम में उन पर फूलों के बीज छिड़क देते हैं। जब जंगल में हर तरफ फूल खिलते हैं, और मेवों के दरख्त कलियों से लद जाते हैं, शहर और गाँव भी चमन के नमूने दिखलाते हैं। लोग दरख्तों के नीचे सब्जों पर जा बैठते हैं। चाय और कबाब खाते हैं। नाचते गाते हैं। एक आदमी दरख्त पर चढ़कर धीरे-धीरे उन्हें हिलाता है सो फूलों की बर्षा होती रहती है। इसी को वहाँ गुलरेजी का मेला कहते हैं। पानी भी यहाँ फूलों से खाली नहीं। कमल और कामोदिनी इतने खिले हैं कि उनके रंगों की आभा से हर लहर इन्द्र-धनुष का समा दिखलाती है। भादों के महीने में जब मेवा पकता है

तो सेव नाशपाती के लिये केवल तोड़ने की मिहनत दर्कार है। दाम उनका कोई नहीं माँगता। जंगल का जंगल पड़ा है। और जो बाग़ों में हिफ़ाजत के साथ पैदा होती है वह भी रुपये की तीन चार सौ से कम नहीं बिकती। नाशपाती कई किस्म की होती है। बटंक सब से बिहतर है। इसी तरह सेब भी बहुत प्रकार के होते हैं। बरसात बिलकुल नहीं होती। पहाड़ इसके गिर्द इतने ऊँचे हैं कि बादल जो समुद्र से आते हैं; उनके अधोभाग ही में लटकते रह जाते हैं—पार होकर कश्मीर के अन्दर नहीं जा सकते।"

उपर्युक्त गद्य पढ़ते समय हम को यह भान नहीं रहता कि हम राजा साहब का, प्रत्यक्ष देखा हुआ, काश्मीर-वर्णन पढ़ रहे हैं, अथवा कल्पना से वर्णन किया हुआ कोई काव्यात्मक वृत्तान्त पढ़ रहे हैं। राजा साहब की गद्य रचना शैली में काव्य की भीतरी ध्वनि तो है ही, साथ ही उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, अतिशयोक्ति, यमक, अनुप्रास और अन्त्यानुप्रास की छटा भी जगह जगह दिखाई देती है। अवश्य ही राजा साहब ने जान-बूझकर काव्य के ये सब लक्षण अपने गद्य में नहीं घुसेड़े हैं; किन्तु उनकी प्रतिभा के प्रवाह में वे आप ही आप उनकी रचना में आते गये हैं। राजा साहब ने शब्दों की अभिधा शक्ति से तो अर्थ व्यक्त किया ही है; पर बहुत स्थानों में लक्षणा और व्यंजना का भी प्रयोग किया है। और सब से अधिक महत्व की बात भाषा का प्रवाह है, शब्दों का ओघ है; और रचना में जगह-जगह शब्दों पर जो स्वरपात (एक्सेन्चुएशन) हुआ है, उससे ऐसा जान पड़ता है कि सम्पूर्ण रचना में संगीत का एक गम्भीर सागर लहरें मार रहा है। राग, स्वर, ताल का समा सा बँध गया है। यह हिन्दी-हिन्दुस्तानी का नमूना है; पर मेरी समझ में यदि इस अवतरण के उर्दू शब्दों की जगह विशुद्ध हिन्दी के शब्द रख लिये जायँ तो भी भाषा के आवेश में कोई भेद नहीं पड़ेगा।

आजकल के साधारण गद्यलेखक समझते हैं कि जैसे हम चुपचाप लिख रहे हैं, वैसे ही पाठक भी चुपचाप पढ़ लेंगे; और अर्थ समझ लेंगे

लेंगे—गद्य में स्वरों के उतार चढ़ाव अथवा उनकी ध्वनि-प्रतिध्वनि से क्या मतलब? पर वास्तव में ऐसा नहीं है। पाठक के हृदय में, उसके अनजानते, प्रत्येक शब्द का स्वरसहित पाठ होता रहता है; और उसका प्रभाव भी उसके हृदय पर पड़ता है। गद्य काव्य-लेखक यदि सीधी सादी भाषा में कोई सुन्दर भाव प्रकट कर देगा तो इतने ही से वह पाठक के हृदय पर अपना अधिकार नहीं जमा सकता; बल्कि जब वह अपनी रचना में श्रवणमधुर नादविशेष पैदा करेगा, तभी वह सफल गद्यकाव्य-लेखक माना जायगा। मान लो हम अपने किसी एकान्त-मित्र से भावावेश में बातचीत करते हैं, और हमको यह भी भान नहीं है कि हम कहाँ हैं, किससे बात करते हैं। अब उस समय हमारे मुँह से जो लच्छेदार, बामुहावरा, काव्यमयी भाषा निकलती है, उसमें पद्य की तरह गणावृत्त या मात्रावृत्त के बन्धन ज़रूर नहीं होते; किन्तु काव्य के अन्य बहुत से लक्षण उसमें अवश्य रहते हैं। साथ ही उसमें मधुर भाषण का एक प्रकार का संगीत भी रहता है और उसी के प्रभाव से हम अपने हृदय का भाव उस प्रेमी मित्र के हृदय में भरते हैं। यही सजीव गद्यलेखन-शैली के विषय में भी चरितार्थ होती है।

बाबू गुलाबराय, एम० ए०

हिन्दी में वीर रस तथा राष्ट्रीय भावना

हिन्दी में यद्यपि काव्य के आत्मा स्वरूप नवों रसों का समावेश रहा है, तथापि उनमें शृङ्गार, वीर, और शान्त की प्रधानता कही जा सकती है।

कोई भाव या वस्तु सदा एकरस नहीं रहती। परिवर्तन जीवन का नियम है। देश की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुकूल वीर रस का भाव भी बदलता रहा है। उसमें हमको एक निश्चित क्रम-विकास के दर्शन होते हैं।

यद्यपि हिन्दी का आदिकाल वीरगाथा-काल के नाम से प्रशस्त है, तथापि साहित्य के इतिहास में कोई समय ऐसा नहीं रहा है जब कि न्यूनाधिक रूप से वीर काव्य न रचा गया हो। क्योंकि वीर-भावना भी हृदय की शाश्वत पुकारों में से है। वह कुछ काल के लिये दब सकती है, किन्तु उसका समूल नाश नहीं हो सकता। शृंगार-प्रधान रीतिकाल में भी भूषण और लाल का प्रादुर्भाव हुआ था। समय के हेर-फेर से वीर भावना का रंग गहरा और हलका होता रहा है। अब हम एक-एक काल को लेकर यह दिखावेंगे कि हिन्दी काव्य में वीर-रस तथा राष्ट्रीय-भावना का क्रम-विकास किस प्रकार हुआ है।

वीरगाथा-काल—यह हिन्दी-साहित्य का शैशव-काल था। जिस समय हिन्दी का जन्म हुआ था उस समय देश में रणचण्डी का भैरव नाद सुनाई पड़ रहा था। "मानो हि महतां धनम्।" जो मान राजपूतों का सर्वस्व था वही उनमें परस्पर-वैमनस्य के बीज बोकर उनके पतन का कारण बना। इसका कारण यह था कि उस समय इस मान का मान-दण्ड कुछ छोटा हो गया था। मानापमान व्यक्ति तथा छोटे-छोटे राज्यों की चहारदीवारियों में सीमित था। लोग अपनी-अपनी डफली पर अपना-

अपना राग अलापना चाहते थे। क्षात्र-धर्म के नाम पर भाई-भाई का गला काटा जा रहा था। लहू बहाना उनका मुख्य ध्येय था। उनको इस बात की परवाह न थी कि किस का लहू बहाया जा रहा है।

क्षुद्र-मान-मूलक परस्पर फूट और वैमनस्य ने मुसलमानों की विजयोल्लास भरी सेना के लिये प्रवेश-द्वार तैयार कर दिया था। आक्रमणकारी मुसलमानों से लोहा लेते-लेते देश की शक्ति क्षीण हो गई थी। कोई केन्द्रीय शासन न था। राजपूती रस्सी अधजली अवश्य हो गई थी, किन्तु उसमें ऐंठ पूरी बाकी थी। लड़ाई को ही धर्म समझने वाली राजपूत जाति के लोग एक-दूसरे को नीचा दिखाने में ही अपनी वीरता की चरम सीमा समझते थे। दिल्ली-कन्नौज की प्रतिद्वन्द्वता ही कविता का एक विषय रह गया था। कवि लोग जिसका खाते उसका गाते थे। जरा-सी बातों पर तलवारें खिंच जाती थीं। सती होनेवाली बेला का कौन दाह करे इस समस्या को लेकर ऐसी नौबत आ गई थी कि—

"गुस्सा ह्वैके पृथ्वीराज तब। तुरतै हुकुम दियो करवाय॥
बत्ती दै देउ सब तोपन में। इन पाजिन को देउ उड़ाय॥
झुके खलासी तब तोपन पर। तुरतै बत्ती दई लगाय॥
दगी सलामी दोनों दल में। धुँअना रह्यौ सरग मँडराय॥
सांपैं छूटी दोनों दल में। रण में होन लगे घमसान॥
अरर-अरर-अर गोला छूटै। कड़-कड़ करैं अगिनिया बान॥
झिमझिम-झिमझिम गोला बरसैं। सननन परी तीर की मार॥

इस तरह के वर्णन वीर भाव को उत्तेजित करते थे, किन्तु इनमें वीर रस की उदार भावना कम थी। बदले की और नीचा दिखाने की भावना का प्राधान्य था।

उस समय के रासो ग्रन्थों में थोड़े-बहुत शृङ्गार के पुट के साथ ऐसी ही वीरता है। मुसलमानों से भी जो लड़ाइयाँ हुईं, वे प्रायः व्यक्तिगत कारणों से हुईं। इस काल की वीरता में यद्यपि राष्ट्रीयता नहीं थी, तथापि अपनी बात के लिये निर्ममतापूर्वक आत्म-बलिदान करना, शरणा-

गत की रक्षा करना (जैसे पृथ्वीराज का शाहबुद्दीन गोरी के भाई मीर-हुसैन के कारण शाह से बैर मोल लेना), स्त्रियों द्वारा पुरुषों का प्रोत्साहित किया जाना, आदि के भाव सराहनीय हैं।

उस समय मुसलमान मात्र से घृणा करने का भाव दृढ़ नहीं था। व्यक्तिगत रूप से मुसलमान लोगों ने भी हिन्दुओं का खूब साथ दिया। उस समय राष्ट्रीयता तो न थी, किन्तु उदारता काफी थी। लोग मरना और मारना दोनों जानते थे। इतना होते हुए भी व्यक्ति का प्राधान्य था।

भक्ति-काल—इस काल में वीर काव्य का रूप बदला। वीरता का कारण व्यक्तिगत न रहकर सार्वजनिक हो गया, प्रजा पर अत्याचार करने-वाले आततायियों के संहार में वीरता दिखायी जाने लगी। वीरता दिखानेवाले काव्य के पात्र उस समय इस लोक के न थे, वरन् देव-कोटि के थे। इसका प्रभाव जनता पर यह तो अवश्य हुआ कि उनमें आतता-यियों के प्रति सात्विक क्रोध बढ़ा, पाप के प्रति घृणा हुई, किन्तु उसी के साथ पापी के प्रति घृणा ने लोगों के हृदय में आश्रय पाया। लोगों के हृदय में आशा-भाव की जागृति हुई। लेकिन उस काव्य से स्वावलम्ब की मात्रा नहीं बढ़ी। यह बात विशेष रूप से सूर और तुलसी के काव्य पर लागू होती है। तुलसी ने आपस की लड़ाई को भी बहुत कुछ कम करने का उद्योग किया है। वे बड़े भारी शान्तिवादी थे। राजपूतों की परस्पर फूट का ही अपने मन में रखते हुए शायद तुलसीदास ने नीचे का दोहा लिखा होगा—

सुमति विचारहिं परिहरहिं, दल-सुमनहु संग्राम।
सकुल गये तनु बिन भये, साखी जादौ काम॥

केशवदास ने नर-काव्य भी किया है और उसमें वे वीरगाथा काव्य की भावनाओं के ही आसपास रहे हैं। केशवदास जी ने महाराज वीरसिंह देवजू की बहादुरी का अच्छा वर्णन किया है, किन्तु उसमें साम्राज्यशाही की झलक है। उसमें मुगल साम्राज्य को सहसा स्वीकार की गई है।

केशव के समय में उसी की महत्ता भी थी, और उस समय के मुसलमान सम्राटों का हिन्दुओं के प्रति व्यवहार भी अच्छा था।

रीतिकाल—यद्यपि रीतिकाल का काव्य शृंगार-प्रधान है, तथापि उस काल में भी वीर रस की कविता का अभाव नहीं था। उस समय जोधराज, भूषण, सूदनलाल, आदि कवियों ने वीर रस की कविता की। इनमें भूषण ने सबसे ज्यादा ख्याति पाई। इस समय के वीर रस कवियों के लिए तो नहीं, किन्तु भूषण और लाल के सम्बन्ध में यह अवश्य कहा जा सकता है कि इनमें हिन्दू संगठन की मात्रा अधिक पायी जाती है। हम इनके वर्णन किये हुए युद्धों में वैयक्तिक द्वेष की अपेक्षा हिन्दुत्व की रक्षा का भाव देखते हैं। इनके समय दाढ़ी-चोटी का संघर्ष दिखाई देता है। देखिए—

"वेद राखे विदित, पुरान राखे सारयुत,
राम नाम राख्यो अति रसना सुघर में।
हिन्दुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की,
काँधे में जनेऊ राख्यो, माला राखी गर में।

× × × ×

राजन की हद राखी तेग बल सिवराज,
देव राखे देवल, सुधर्म राख्यो घर में।"

इसमें हिन्दू-संस्कृति की रक्षा की पुकार है। भूषण के काव्य में वैरियों के प्रति अनुदारता भी दिखाई पड़ती है। "तीन बेर खातीं सो तीन बेर खाती हैं, नगन जड़ातीं वे नगन जड़ाती हैं।" ऐसे कथन राष्ट्रीयता तथा उदारता के विरुद्ध अवश्य पड़ते हैं, किन्तु इसके लिए केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वह रीतिकाल का समय था भूषण अच्छे यमक का लोभ संवरण न कर सके होंगे, और दूसरी बात यह भी है कि वे मनुष्य थे, अपने समय की भावनाओं से प्रभावित थे। उनको हमें बीसवीं शताब्दी के मापदण्ड से नहीं जानना चाहिये। फिर बीसवीं

शताब्दी में ही मानवता पूरी तौर से कहाँ आ पाई है। उस समय के और कवियों में वीर-गाथा का ही प्रभाव है।

वर्तमान काल—वर्तमान काल का जन्म भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से होता है। उन्होंने अपने नाटकों में देशभक्ति का पुट दिया है। यद्यपि उनके नाटकों में भी हिन्दू-मुसलिम संघर्ष की झलक मिलती है, तथापि उनमें राष्ट्रीयता का सूत्र-पात हुआ है। भारतवर्ष की दुर्दशा का अच्छा चित्रण है। अपने दोषों को निर्भयता-पूर्वक स्वीकार किया गया है—"जग में घर की फूट बुरी, फूटहि सों जयचन्द बुलायो जवनन भारत धाम।" अंग्रेजी राज्य की तारीफ करते हुए भी उन्होंने विदेश को धन जाने तथा टैक्स की बुराई की है—

"अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी॥

❀ ❀ ❀

सब के ऊपर टिक्कस की आफत आई,
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई।"

भारतेन्दु जी में भारत को एक इकाई मानने की प्रवृत्ति है। भारत के सुधार की पुकार है। "भारत दुर्दशा लखी न जाई"—भारत के ही दुःख पर शोक प्रकट किया जाता है—

"सबै सुखी जग के नर-नारी,
रे विधना, भारत हि दुखारी।"

सामूहिक रूप से वीरता दिखाने की भी बात आती है, किन्तु वह वीरता ब्रिटिश शेर के नेतृत्व में ही है। उसमें साम्राज्यशाही की छाप है। देखिए वीरों को काबुल जाने के लिये प्रोत्साहित किया जा रहा है—

"प्रगट वीरता देहि दिखाई।
छल मँह काबुल लेहु छुड़ाई॥"

राष्ट्रीयता की जो तान भारतेन्दु जी ने छेड़ी थी उसका स्वर गुप्त जी में कुछ ऊँचा हो जाता है।

गुप्त जी के अनघ में हम को गांधीवाद की सहिष्णुतापूर्ण वीरता के दर्शन होते हैं। यह कहना अनुचित न होगा कि महात्मा गांधी के विचारों की, हिन्दी साहित्य में गहरी छाप पड़ी है। वीरता का दृष्टिकोण अब बदल गया है। अब अत्याचारी के अत्याचार का बदला तलवार से घाव करने में नहीं रहा है, वरन् प्रेम के साथ उसके हृदय-परिवर्तन में है। आजकल की वीरता का आदर्श इस पद्य में भली भाँति पाते हैं—

पापी का उपकार करो, हाँ पापों का प्रतिकार करो;

× × ×

आग्रह करके सदा सत्य का जहाँ कहीं हो शोध करो,
डरो कभी न प्रकट करने में जो अनुभव जो बोध करो,
उत्पीड़न अन्याय कहीं हो दृढ़ता सहित विरोध करो,
किन्तु विरोधी पर भी अपने करुणा करो, न क्रोध करो।''

'साकेत' में हमको सत्याग्रह और युद्ध दोनों ही पक्षों का उद्घाटन मिलता है। अनाक्रमणकारी ('नॉन-एग्रेसिव') तथा हाथ न पसारने-वाली वीरता हम को सुमित्रा के वचनों में मिलती है—

''स्वत्वों की भिक्षा कैसी ?

× × × ×

पाकर वंशोचित शिक्षा—माँगेंगी हम क्यों भिक्षा ?
प्राप्य याचना वर्जित है, आप भुजों से अर्जित है।
हम पर-भाग नहीं लेंगी, अपना त्याग नहीं देंगी,
वीर न अपना देते हैं, न वे और का लेते हैं।''

गांधीवाद का गुप्त बन्धुओं पर अच्छा प्रभाव पड़ा है। सियारामशरण जी ने अपनी 'बापू' शीर्षक कविता में गांधीवाद का परिचय दिया है। देखिये कितना मानवतापूर्ण आशावाद है—

''जान लिया तुमने विशुद्धान्तःकरण से—
सत्ताधारियों के प्रहरण से

नाश नहीं जीवन का
बीज उसमें है चिरन्तन का।"

गांधीवाद के साथ-साथ देश में क्रान्ति की भी लहर चल रही है, किन्तु उसकी छाया हमारी कविता में बहुत गहरी नहीं पड़ी है। यत्र-तत्र हमको काव्य में उग्रता के भी दर्शन मिलते हैं। कभी कभी नवीन जी जैसे कवि ऐसी तान सुनाने को कहते हैं जिससे उथल पुथल मच जाय—

"कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाए।"

❀ ❀ ❀ ❀

प्राणों के लाले पड़ जाएँ, त्राहि-त्राहि रव नभ में छाए,
नाश और सत्यानाशों का धुआँधार जग में छा जाए,
बरसे आग, जलद जल जाएँ, भस्मसात् भूधर हो जाएँ।"

हमको साहित्य में क्रान्ति की झलक मिलती अवश्य है, किन्तु ज्यादातर हमको अत्याचारों के सहने का ही उपदेश मिलता है। देखिए सनेही जी क्या कहते हैं—

"सहकर सिर पर भार मौन ही रहना होगा,
आये दिन की कड़ी मुसीबत सहना होगा।
रंगमहल-सी जेल भाड़ भी गहना होगा,
किन्तु न मुख से कभी हन्त हा! कहना होगा।
डरना होगा ईश से और दुखी की हाय से।
भिड़ना होगा ठोककर खम अनीत अन्याय से॥"

आजकल की वीरता का यही रूप है। आजकल पशुबल की अपेक्षा आत्मबल का अधिक महत्व है।

वर्तमान समय में रहस्यवाद और छायावाद की कविता का प्राधान्य होते हुए भी काव्य जीवन के घोर सत्यों की उपेक्षा नहीं कर रहा है। वह देश की निराशा और हमसे भली-भाँति परिचित है। वह झूठी डींग भी नहीं मारता। नवीन जैसे कवि भी पराजय-गीत गाते हैं—

"आज खड्ग की धार कुण्ठित है खाली तूणीर हुआ।
विजय-पताका झुकी हुई है, लक्ष्य-भ्रष्ट यह तीर हुआ।"

आजकल का कवि अपने आश्रयदाता के गीत नहीं गाता है। किसान, मजदूर, पीड़ित, शोषित ही उसके गीतों के विषय बन गए हैं। पंत जी की 'युगवाणी' में साम्यवाद की पूरी-पूरी छाप है। किन्तु उनका साम्यवाद शुष्क साम्यवाद नहीं है, उसमें सौन्दर्य और कल्पना के लिये स्थान है। कवि की मानवतापूर्ण भावुकता में सब कुछ सुन्दर हो जाता है। हमारे भाव संकुचित राष्ट्रीयता से अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर जाने लगते हैं। पंत जी ने भावी संस्कृति का कैसा सुन्दर रूप सामने रक्खा है—

"जहाँ दैन्य-जर्जर, अभाव-ज्वर पीड़ित
जीवन-यापन हो न मनुज को गर्हित।
युग-युग के छाया-भावों से त्रासित,
मानव-प्रति मानव-मन हो न सशंकित।
मुक्त जहाँ मन की गति जीवन में रति,
भव-मानवता में जन-जीवन की परिणति।
संस्कृत वाणी भाव, कर्म संस्कृत मन
सुन्दर हो जनवास, वसन सुन्दर तन।"

अब राष्ट्रीयता को छोड़ मानवता की पुकार की जाती है?

"क्षुद्र, घृणित, भव-भेद-जनित
जो, उसे मिटा, भव-संघ भाव भर
देश काल औ' स्थिति के ऊपर
मानवता को करो प्रतिष्ठित।"

गांधीवाद का मूल मंत्र मानवता ही माना गया है। देखिए—

"गांधीवाद जगत में आया ले मानवता का नव मान।
सत्य-अहिंसा से मनुजोचित नव संस्कृति करने निर्माण।"

गांधीवाद ने देश की आत्मा की परिशुद्धि को अपना लक्ष्य बनाया

है और समाज ने देश के शरीर की रक्षा की है। जीवन के लिये शरीर और आत्मा दोनों ही आवश्यक हैं।

अब भगवतीचरण जी भी अपना प्रेम-संगीत छोड़कर पीड़ितों की वकालत की ओर झुके हैं। हिन्दी काव्य में देशभक्ति और राष्ट्रीयता की भावना ओतप्रोत होती जा रही है और उसमें वर्तमान सभ्यता की मानव-गौरव-सम्बन्धिनी भावना स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो रही है।

श्री गणेशशंकर विद्यार्थी

हिन्दी-साहित्य-जगत् का सिंहावलोकन

आज से उन्नीस वर्ष पहले, जब कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का जन्म नहीं हुआ था, और उसके जन्म के पश्चात् भी कई वर्षों तक, अपनी मातृ-भाषा का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध करने के लिये, हमें पग-पग पर न केवल संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, सौराष्ट्री आदि की छान-बीन करते हुए शब्द-विज्ञान और भाषा-विज्ञान के आधार पर यह सिद्ध करने की आवश्यकता पड़ा करती थी कि हिन्दी भाषा संस्कृत या प्राकृत की बड़ी कन्या है, किन्तु, बहुधा बात यहाँ तक पहुँच जाया करती थी और यह भी सिद्ध करना पड़ता था कि नानक और कबीर, सूर और तुलसी की भाषा का, बादशाह शाहजहाँ के समय जन्म लेनेवाली उर्दू बोली के पहले कोई अलग गद्य रूप भी था। जिस भाषा में पद्य की रचना और पद देश के कोने कोने में उन असंख्यों श्रद्धालु नर-नारियों के कण्ठों से आज कई शताब्दियों से प्रतिध्वनित हो रहे हैं, जिनकी मातृ-भाषा हिन्दी नहीं है, हिन्दी के फारसी-मिश्रित रूप उर्दू ने भी एक विशेष दिशा में एक बहुत बड़ा काम किया था। देश भर में जहाँ भी मुसलमान बसते हैं, वहाँ की भाषा चाहे कोई भी क्यों न हो, वे उर्दू के रूप में हिन्दी समझते हैं, और हिन्दी बोलते हैं। अंग्रेजी शासनकाल में फारसी के स्थान पर आसीन होने पर उर्दू हिन्दी के मार्ग में किसी अंश में कुछ बाधा डालने वाली अवश्य सिद्ध हुई, किन्तु अब वह ऐसी कदापि नहीं है, और उसका जन्म हिन्दी के विरोध के लिये नहीं, हिन्दी की वृद्धि के लिये हुआ। मेरी धारणा तो यह है कि उर्दू के रूप में मुसलमान भारतीयों ने हिन्दी की और भारतवर्ष की अर्चना की। उर्दू वह वाणी-पुष्प है जिसे मुसलमानों ने इस देश के हो जाने के पश्चात्, भक्ति-भाव से माता का स्मरण करते हुए उसके चरणों

में चढ़ाया। आज नहीं, जब यह राष्ट्र पूर्ण राष्ट्र हो जाने के योग्य होगा, जब संसार के अन्य बड़े राष्ट्रों के समकक्ष खड़े होने में वह समर्थ होगा, उस समय, राष्ट्र-भाषा के निर्माण में उर्दू और उसके द्वारा देश की जो सेवा मुसलमान भारतीयों से बन पड़ी, उसका वर्णन इतिहास में स्वर्णांकित अक्षरों में होगा। स्वामी दयानन्द, आर्य-समाज और गुरुकुलों ने हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने में बड़ा काम किया। राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों से राष्ट्र-भाषा के आन्दोलन को बहुत बल मिला। सुदूर प्रान्तों तक में राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि की आवश्यकता अनुभव होने लगी। कृष्णास्वामी अय्यर, जस्टिस शारदाचरण मित्र, महाराज सयाजीराव गायकवाड़, जस्टिस आशुतोष मुकरजी आदि ने आज से बहुत पहले इस दिशा में बहुत उद्योग किया था। अन्य भाषा-भाषियों ने देश-भक्ति और राष्ट्र-निर्माण के विचार से हिन्दी को अपनाना आरम्भ किया। मराठी और गुजराती की साहित्य-परिषदों ने हिन्दी को राष्ट्र-भाषा स्वीकार किया। म० गांधी के इस प्रश्न के अपने हाथ में ले लेने के पश्चात् तो राष्ट्र-भाषा हिन्दी का प्रचार विधिवत अन्य प्रान्तों में होने लगा, और दक्षिण में, जहाँ सब से अधिक कठिनाई थी, बहुत सन्तोषजनक काम हुआ है। राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस ने भी हिन्दी को राष्ट्र-भाषा स्वीकार कर लिया है, और अब देश के विविध भागों से आये हुए उसके प्रतिनिधि उसका अधिकांश कार्य हिन्दी में करते हैं। राष्ट्र-भाषा के रूप में हिन्दी का स्थान निर्विवादरूपेण सुरक्षित है। उर्दूवालों को पहले चाहे जो आपत्ति रही हो, किन्तु अब वे भी इसे मानने लगे हैं कि उर्दू हिन्दी का फारसी-मिश्रित रूप है, और डा० अन्सारी और मौ० जफरअली ऐसे मुसलमान नेता तक हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के नाम से पुकारना आवश्यक और गौरव की बात समझते हैं। इस द्रुत गति से, बहुत ही थोड़े समय में, हिन्दी का इस स्थान को प्राप्त कर लेना देश में नये जीवन के उदय का विशेष चिह्न है। राष्ट्र-भाषा का काम अभी तक केवल भारत ही में हुआ है, वृहत्तर भारत

अभी तक उससे कोरा है। लाखों भारतवासी विदेशों में पड़े हुए हैं, वे अपनी वेश भूषा और भाषा भूलते जाते हैं। अभी तक वे इस देश के हैं, और देश के नाम पर विदेशों में टूटे-फूटे रूप हिन्दी को अपनाते हैं। किन्तु धीरे-धीरे भारतीय संस्कृति का अधिकार उन पर से कम होता जाता है, और सम्भव है कि कुछ समय पश्चात् वे नाम-मात्र ही के लिये भारतीय रह जायँ। उनको अपना बनाये रखने, और हिन्दी का सन्देश संसार के अनेक स्थलों में पहुँचाने का यही सब से सुगम उपाय है कि उन तक राष्ट्र-भाषा हिन्दी का सन्देश पहुँचाया जाय।

हिन्दी साहित्य की गति इस समय किस ओर है और वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए उसे किस प्रकार का होना चाहिये, यह प्रश्न अत्यन्त महत्त्व का है। पुराने समय में गद्य साहित्य की सृष्टि की ओर लोगों का विशेष ध्यान ही न था। उस समय का जो गद्य साहित्य है, यद्यपि उसका अधिकांश शृंगार और भक्ति रस ही का है, किन्तु है वह बहुत ऊँचे ढंग का, और संसार के अनेक देशों के समकालीन साहित्य से तुलना में बहुत अच्छा ठहर सकता है। इधर लगभग एक शताब्दी के भीतर हिन्दी साहित्य के रूप और रंग में पहले से बहुत अंतर पड़ गया है। न गद्य का वह रूप है, और न पद्य का नितान्त वैसा ही। जिस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी की की संरक्षता में हिन्दी गद्य की कुछ पुस्तकें लिखी गईं, लगभग उस समय के कुछ उपरान्त से ही हिन्दी के सेवकों को हिंदी अक्षरों की रक्षा और हिंदी भाषा और साहित्य की स्वतंत्र सत्ता की स्थापना करने के काम ही में अपनी शक्ति लगानी पड़ी। इस अवसर पर हिंदी के आकाश में कितने ही देदीप्यमान नक्षत्र उदय हुए। यदि उस समय बा० हरिश्चन्द्र राजा शिवप्रसाद, पं० बदरीनारायण उपाध्याय, पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० अम्बिकादत्त व्यास, अन्य अनेक महान आत्माओं ने अपनी प्रतिभा और ओज के बल से हिंदी की जड़ न जमाई होती, तो इस समय हम सब को हिंदी के उद्धार के लिये कदाचित् उसी प्रकार प्रयत्नशील होना

पड़ता, जिस प्रकार नव-जीवन के उदय होने पर आयरलैंड को अपनी खोई हुई भाषा और साहित्य को खोज निकालने के लिये होना पड़ा था। साहित्य-पथ के उन दृढ़निश्चयी अग्रगामियों के समय के पश्चात् हिंदी भाषा और साहित्य की ओर सामाजिक, धार्मिक और शिक्षा सम्बन्धी आंदोलनों के कारण देश के अंग्रेजी पठित समाज का ध्यान गया और हिंदी लिखने में उन्हें पहले जो संकोच हुआ करता था, वह मिट गया। वह समय हिंदी में विविध विषयों पर पुस्तकों के निकलने का था। इस युग में अनुवादों की बाढ़ आई, और जो कुछ लिखा गया वह विशेषाध्ययन या विशेष ज्ञान द्वारा बहुत कम लिखा गया। एक साहित्य-सेवी मित्र का तो कथन यहाँ तक है कि इन नवागन्तुक साहित्य-प्रेमियों ने कुछ समय तक अपनी लेखन शैली से भाषा और व्याकरण की ऐसी हत्या की कि कुछ न पूछिए, और यदि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' में अपनी खरी आलोचना द्वारा इन साहित्यिकों को भाषा और व्याकरण के सम्बन्ध में ठीक रास्ते पर न लगाते, तो बहुत समय तक, हिन्दी के क्षेत्र में, बड़ी अस्त-व्यस्तता रहती। अब, इस समय, हिन्दी में पहले का-सा दारिद्र्य नहीं है, अनेक विषयों पर पुस्तकें और निबन्ध लिखे जाने लगे हैं। पहले की अपेक्षा भाषा और व्याकरण का अधिक विचार किया जाता है, और प्रौढ़ विचार और नवीन विचार-दृष्टि से विषयों का प्रतिपादन, सम्पादन और प्रकाशन होने लगा है। संसार भर में इस समय विचारों की क्रान्ति-धारा बह रही है। प्रत्येक देश के नर-नारी जीवन के समस्त व्यवहारों पर एक नये ढंग से सोचने-समझने के लिये विवश हो रहे हैं। इस देश पर भी इन बातों का प्रभाव पड़ रहा है। यहाँ भी हृदय-मंथन आरम्भ हो गया है। हिन्दी के लेखक अँधेरे में भले ही भटकते हों, किन्तु कोई यह नहीं कह सकता कि युग-धर्म की जो पहेलियाँ अपने विश्लेषण के लिये सामने उपस्थित हैं, उनकी ओर हिन्दी का साहित्य-क्षेत्र उदासीन है। किन्तु समय नया है, समस्याएँ नयी हैं, उनसे उलझने या उनके सुलझानेवाले नये हैं, हिन्दी

का गद्य साहित्य स्वयं नया है, इसलिये नये साहित्य-सेवी अपने नये विषयों के प्रतिपादन में सिद्ध-हस्त नहीं हैं, और अपने उद्योग से वे अभी तक न कोई विशेष स्थायी साहित्य ही रच सके, और न कोई ऐसी लीक खींच सके कि उस पर चलकर औरों के लिये उद्देश्य-सिद्धि का मार्ग मिले। अस्थिरता का समय है यह, या यों कहिए कि हम एक अस्थायी युग के बीच में से होकर गुजर रहे हैं, और यद्यपि इस समय हमारे नये साधनों में कच्चापन है, किन्तु आगे चलकर, कुछ ही समय पश्चात् हमारे साहित्य-क्षेत्र में, सिद्धहस्त लेखक और विशेषज्ञ सामने आ जायँगे, और हमारे साहित्य-उद्यान के चारों ओर जो घास-फूस इकट्ठा हो जायगा, उसे चतुर और सहृदय समालोचक—ऐसे समालोचक, जो केवल शब्दों और व्याकरण के नियमों ही को न पकड़ेंगे, किन्तु जो तत्वदर्शी के समान लेखक और विषय की आत्मा में प्रवेश करके, उनके गुण, उनके अन्तर्भावों का विश्लेषण भी करेंगे—अलग करके उद्यान को सदा दर्शनीय और विचारणीय बनाये रखेंगे।

हिन्दी में नाटकों की कमी है। दृश्य-साहित्य समाज के जीवन पर बहुत प्रभाव डाल सकता है। उसकी ओर वर्तमान लेखकों की उदासीनता का क्या कारण है? ऐतिहासिक वार्ताओं पर नाटक की रचना के लिये तत्कालीन समाज और ऐतिहासिक वातावरण के पूर्ण अध्ययन की बड़ी आवश्यकता है। वर्तमान सामाजिक जीवन पर नाटक की रचना के लिये यह अनिवार्य है कि उसके आधार के सामाजिक जीवन का अत्यन्त निकट से पूरा-पूरा ज्ञान प्राप्त किया जाय। जिनमें इतनी अध्यवसायशीलता हो, और साथ ही हो मनोविज्ञान का अनुभव, वे नाटक और साथ ही उपन्यास लिखने में सफल हो सकते हैं।

देश-भक्ति के भाव को लेकर पद्य-रचनाएँ अब पहले की अपेक्षा अधिक होती हैं। पहले के संकीर्ण क्षेत्र से निकल कर हिन्दी कविता ने अब अधिक विशाल भाव और भावनाओं के प्रांगण में पग रखा है। विश्व-वेदना से हृदय के अंतर्भाव उथल-पुथल होने लगे हैं। नये हिन्दी

कवि ब्रज-भाषा और खड़ी बोली के झगड़े से अलग होते जाते हैं। वे अपने भावों को टकसाली शब्दों ही में बन्द नहीं रखना चाहते। शब्दों को वे आगे बढ़ाते जा रहे हैं। भाव का भी स्पष्ट होना आवश्यक है या नहीं, इस समय इस पर विवाद छिड़ा है। कहीं कहीं सब प्रकार के छंदों से भी स्वच्छन्दता प्राप्त कर ली गई है। भाषा के प्रसार के साथ उसकी कविता का प्रसार होना भी आवश्यक है। कविता भरे हुए हृदय की भावनाओं का साहित्यिक रूप है। उसमें और गद्य में कुछ अंतर तो अब तक चला ही आता था, और उसकी मनोहरता के लिये यह आवश्यक है कि वह बहुत स्वतन्त्र होती हुई भी स्वर और मात्राओं के बंधनों में बँधी रहे।

हिन्दी साहित्य के एक विशेष अङ्ग पर भी मुझे अपना कुछ मत प्रकट करना आवश्यक जँचता है। इस समय 'घासलेटी साहित्य' की चर्चा बहुत जोरों से उठ रही है। मुझे इस बात के बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि घासलेटी साहित्य किस प्रकार के साहित्य को कहते हैं? जो साहित्य यथार्थ में सार्वजनिक कुरुचि की वृद्धि करने वाला है, वह निःसन्देह त्याज्य और भर्त्सनीय है। किन्तु उसका त्याज्य और भर्त्सनीय होना, उसके अस्तित्व और वृद्धि का अन्त नहीं कर सकता। मेरी धारणा तो यह है कि हमें उससे तनिक भी घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है। वह तो अनिवार्य बुराई है। वह किस देश में और किस भाषा में नहीं है? जिस प्रकार शरीर में अनेक सुन्दर अवयवों और शक्तियों के होते हुए उसमें मल-मूत्र ऐसे गंदे पदार्थ भी होते हैं उसी प्रकार, साहित्य के क्षेत्र में प्रत्येक देश में गंदा साहित्य भी होता है। इस प्रकार का साहित्य कहीं भी भद्र समाज में आदरणीय नहीं समझा जाता। आप भी उसको आदरणीय या ग्राह्य नहीं समझ सकते। बस, इस साहित्य के प्रति आपकी ऐसी ही भावना यथेष्ट है। इससे अधिक इसके पीछे हाथ धोकर पड़ने में, मेरी विनम्र सम्मति से, हानि होगी। मानव-स्वभाव बहुत दुर्बल हुआ करता है। बुराई की ओर वह बहुत झुकता

हैं। आपका हाथ धोकर पीछे पड़ना इस प्रकार के साहित्य को विज्ञापन करना होगा, इस प्रकार उसे आप साधारण लोगों में और भी अधिक प्रचलित करेंगे। पैसे के लाभ के लिये इस प्रकार के कला और विज्ञान से शून्य साहित्य की रचना और प्रकाशन करनेवालों को छोड़कर, एक विशेष श्रेणी के साहित्य-सेवी ऐसे भी हैं जो लोक-कल्याण या रचना-कला की दृष्टि से, जो बात जैसी है, उसका वैसा ही चित्र खींचना आवश्यक समझते हैं। इसे वे प्रकृतिवाद ('रियलिज्म') के नाम से पुकारते हैं। अपनी शैली के कलापूर्ण होने के प्रमाण में, वे पाश्चात्य देशों के बहुत से धुरन्धर साहित्यिकों के नाम पेश करते हैं। फ्रांसीसी कहानी-लेखक मोपासाँ का नाम इस सम्बन्ध में बहुत लिया जाता है। इस सम्बन्ध में मेरा विनम्र निवेदन यह है कि प्रकृतिवाद के सम्बन्ध में कुछ भ्रमात्मक धारणाएँ प्रचलित हो गई हैं। फ्रांस के प्रसिद्ध साहित्य-सेवी अनातोले फ्रांस भी प्रकृति-वादी थे। उनका ही यह कथन था कि किसी घटना का तद्वत् चित्र खींचने के लिये, या किसी मनोभाव के तद्वत् प्रदर्शित करने के लिये नेत्र और हृदय खोलकर उस प्रकार की घटनाओं या भावों में या उनके अत्यन्त निकट से होकर निकलने की आवश्यकता है, और कितने व्यक्ति हैं जो साहित्य-क्षेत्र में अपने प्रकृतिवाद का प्रदर्शन करने के पहले ऐसा कर चुके हों। बहुधा होता यह है कि लेखक के मस्तिष्क में जो कलुषित भाव ऊपर ही रक्खे होते हैं, प्रकृतिवाद की आड़ में वह उन्हीं का अपनी कृति में प्रदर्शन कर दिया करता है। निःसंदेह मोपासाँ अपने काम में बहुत चतुर है, वह अद्वितीय है। किंतु उसको अनुकरणीय मान लेने के पहले, इस बात को भी हृदयङ्गम कर लेने की आवश्यकता है कि कला के सम्बन्ध में उसका आदर्श बहुत ऊँचा नहीं था। वह कला में सत्यं शिवं सुन्दरम् के दर्शन नहीं करता था। वह कहा करता था कि संसार में कोई वस्तु या भाव नया नहीं है, साहित्यिक कोई नई बात नहीं कह सकते, वे केवल किसी वस्तु या अवस्था को नयी विचार-दृष्टि से देख सकते हैं, और यही बड़ी भारी बात है।

पंडित अवध उपाध्याय

हिन्दी में कविता की प्रगति

इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी में अरबी और फारसी के भी शब्द आए हैं; परन्तु इसका अधिक सम्बन्ध सर्वदा संस्कृत तथा प्राकृत से ही रहा है। यहाँ पर मैं इस सम्बन्ध में विचार नहीं करना चाहता कि हिन्दी-भाषा की उत्पत्ति किस प्रकार से हुई, कब हुई और इसके जन्म-दाता कौन हैं। परन्तु इस बात को तो सब लोग मुक्त कंठ से स्वीकार कर लेंगे कि चाहे हिन्दी-भाषा की उत्पत्ति जिस प्रकार से हुई हो, हिन्दी-साहित्य तथा हिन्दी-कविता पर सबसे अधिक प्रभाव संस्कृत का ही पड़ा है। यहाँ तक कि हिन्दी में भी संस्कृत के छन्द पाये जाते हैं। इतना ही नहीं, हिन्दी में जितने प्रधान साहित्य-ग्रन्थ हैं, उन सब पर किसी-न-किसी अंश में संस्कृत ग्रन्थों का प्रभाव अवश्य पड़ा है। संस्कृत में रस, ध्वनि, रीति तथा अलंकार आदि विषयों का वर्णन रहता है। अतएव हिन्दीवालों ने भी इन सब विषयों का अध्ययन आरम्भ कर दिया। परन्तु हिन्दीवालों के हाथों में इन सबकी बड़ी दुर्गति हुई। संस्कृत में तो इन विषयों पर अनेक ग्रन्थ थे, परन्तु हिंदी में पहले इन सब विषयों पर कोई ऐसा उत्कृष्ट ग्रन्थ न था, जो इन सबकी विस्तृत आलोचना करे। अतएव हिन्दीवाले रसादिकों को भली भाँति समझ ही नहीं सके। इनमें से कुछ तो ऐसे थे, जिन्होंने अलंकारों को ही सब कुछ समझ लिया। कुछ हिन्दीवालों ने रसों को और कितने ही महानुभावों ने ध्वनि तथा रीति को ही सब कुछ समझ लिया। इस प्रकार साहित्य के सब अङ्गों को हिन्दी वालों ने भली भाँति समझा ही नहीं। इसमें हिंदीवालों का कुछ दोष भी न था; क्योंकि जब इन सब विषयों पर कोई स्वतन्त्र तथा प्रामाणिक ग्रंथ ही न थे, तब ये लोग इन्हें कैसे समझते?

कुछ लोग ऐसे भी थे, जो संस्कृत भी जानते थे, और हिंदी में भी

लिखते थे। इन लोगों ने अपने संस्कृत-ज्ञान से पूरा लाभ उठाया, और हिन्दी में अनेक ग्रंथों की रचना की। इन लोगों ने किसी-न-किसी रूप में संस्कृत के ग्रंथों को ही अपने हिन्दी-ग्रंथों का आधार बनाया। परन्तु इनमें अनुवाद की गंध सदा आती रही, और ये सब संस्कृत-ग्रंथों की टक्कर के नहीं बन सके। इस प्रकार हिंदीवालों के पढ़ने के लिए कोई उत्कृष्ट ग्रंथ नहीं मिल सका, और हिंदी में अंध-परंपरा चल पड़ी। कुछ प्रसिद्ध कवियों की देखा-देखी हिंदी के अधिक कवियों ने नायिका-भेद को ही अपना परम धर्म मान लिया। इस प्रकार नायिका-भेद का बाजार गर्म हो गया। यही कारण है कि भक्त-कवियों तथा कुछ इने-गिने और कवियों को छोड़कर हिंदी-भाषा में प्रथम श्रेणी का कोई कवि उत्पन्न ही नहीं हुआ। यदि हिंदी-भाषा के भक्त-कवियों तथा दो-एक और कवियों को छोड़ दें, तो हिंदी-भाषा में प्रथम श्रेणी के कवि रह ही नहीं जाते।

इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी-भाषा के भक्त-कवियों का स्थान बहुत ऊँचा है। गोस्वामी तुलसीदास जी किसी दूसरी भाषा में नहीं हैं। सब अंशों में संसार का कोई भी कवि गोस्वामी जी की समानता नहीं कर सकता। महात्मा सूरदास जी, महात्मा कबीरदास जी भी हिन्दी-भाषा के रत्न हैं। इन महात्माओं की देखा देखी साधारण लोगों ने भी श्री रामचन्द्र जी तथा श्री राधाकृष्ण जी के सम्बन्ध में कविताएँ बनानी आरम्भ कर दीं। इनमें कुछ तो ऐसे थे, जो वास्तव में कवि थे ही नहीं, तथापि वे कविता करने लगे, और कुछ ऐसे सज्जनों ने जनता पर अपनी धाक भी जमा ली। उदाहरण के लिये, हम केशवदास जी को ले सकते हैं। केशवदास जी को कवि स्वीकार करना अपना और केशवदास जी, दोनों का अपमान करना है। उस पर भी आप प्रबन्ध-काव्य लिखने बैठ गए, और अपने शुष्क दिमाग को खरोच-खरोच कर शब्दों की भरती करने लगे। यही कारण है कि केशवदास जी कई शब्दों को व्यर्थ ही पकड़ ले आते और उनसे बेगार करवाते हैं।

मेरा पूर्ण विश्वास है कि यदि इन शब्दों में जान होती, तो ये कभी इतना बेगार न करते। केशवदास जी को तो अंत में धन प्राप्ति का अवश्य ही संतोष हुआ होगा। विहारीलाल जी ने भी पर्याप्त धन पाया था। परन्तु केवल इसी कारण से ये महाकवि अथवा प्रथम श्रेणी के कवि नहीं कहे जा सकते। केशवदास जी में तो कवि-हृदय का अस्तित्व ही नहीं पाया जाता। विहारीलाल जी का जीवन भी चोरी में ही कट गया, जैसा कि श्री पद्मसिंह जी शर्मा की पुस्तक से प्रकट है। किसी ग्रंथ या भाव के आधार पर लिखना एक बात है, और अपने अनुभव के आधार पर लिखना बिलकुल दूसरी बात। यही कारण है कि ग्रीव साहब विहारी तथा देव, दोनों में से किसी को भी कवि ही नहीं स्वीकार करते। यदि हम लोग इन्हें कवि मान भी लें, तो ये प्रथम श्रेणी के कवि तो माने ही नहीं जा सकते।

वास्तव में वह समय ही दूसरा था। जिस मनुष्य की किसी राजा के यहाँ प्रतिष्ठा हो जाती थी, उसकी बन आती थी, और वह कवि बन बैठता था; क्योंकि सब उसे कविता करनी ही पड़ती थी। परंतु ठोक-पीटकर कोई वैद्यराज नहीं बन सकता। ये प्रथम श्रेणी के कवि कैसे हो सकते थे! प्रथम श्रेणी के कवियों के लिये जिस तल्लीनता की आवश्यकता है, वह इन्हें कैसे मिल सकती थी? इन्हीं सब कारणों से तल्लीन भक्त-कवियों तथा अन्य कुछ कवियों के अतिरिक्त और कोई प्रथम-श्रेणी का कवि उत्पन्न ही नहीं हुआ। इन्हीं कवियों की अंध-परंपरा तथा हृदय-हीनता के कारण साहित्य के सब अंगों की पूर्ति नहीं हो सकी, और हिंदी-साहित्य का क्षेत्र बहुत ही अधिक परिमित रह गया। यही कारण है कि उस समय हिंदी-भाषा में कोई उपन्यास, कोई नाटक तथा कोई सुन्दर तथा प्रधान ग्रंथ नहीं लिखा गया। इसमें संदेह नहीं कि हिंदी-भाषा में नायिका-भेद तथा भक्ति से संबंध रखनेवाले अनेक काव्य-ग्रंथ हैं; परंतु इसका क्षेत्र और भी अधिक विस्तृत होना चाहिये था।

हिंदी-भाषा में नायिका-भेद आदि पर जितने ग्रंथ हैं, कदाचित् ही

संसार में साहित्य की किसी भी अन्य भाषा में हों। तथापि इनमें एक भी सजीव नायिका नहीं है। यह कितने दुःख की बात है कि भक्त-कवियों तथा दो-एक और कवियों को छोड़कर हिंदी-भाषा के सारे कवि मिलकर भी एक सजीव नायिका की सृष्टि न कर सके। यदि हम लोग सच या झूठ, किसी बात का गर्व कर सकते हैं, तो केवल इस बात का कि हिंदी-भाषा में नायिकाओं का बहुत ही अधिक विस्तृत वर्णन पाया जाता है। परंतु उस नायिका-भेद के परिमित क्षेत्र में भी हिंदी-कवियों की सृष्टि नहीं के बराबर है। सृष्टि करना तो ये लोग जानते ही नहीं थे। हिंदी-भाषा के नायिका-भेद-सम्बन्धी ग्रंथों में सजीव नायिकाओं का वर्णन नहीं पाया जाता; किन्तु निर्जीव चित्रों का पाया जाता है। यदि इन लोगों ने कुछ निर्जीव-चित्रों की ही सृष्टि की होती, तो भी कुछ बात थी। ये लोग प्रायः इन निर्जीव चित्रों को भी दूसरों से उधार लेते थे और इसके लिये भी दूसरों का दरवाजा खटखटाया करते थे। जिस विषय पर अनेक ग्रंथ हैं, उसकी यह दशा है। जिन विषयों को इन लोगों ने स्पर्श ही नहीं किया, उनके सम्बन्ध में मौन रहना ही अच्छा। चाहे आप जिस ग्रंथ को उठाइए, बस, वही चर्खा सबमें चलता है, और वही पुराना पचड़ा सब में गाया जाता है। उस पर भी मजा यह कि ये निर्जीव चित्र भी संस्कृत-साहित्य से चुराये गए हैं।

यह बात नहीं कि ये कवि लोग अपनी क्षुद्रता तथा कमजोरी को न समझते रहे हों। ये लोग भी जानते थे कि इन लोगों का जन्म व्यर्थ गया। इन लोगों ने भी अपने मन में खूब समझा था कि ये प्रथम श्रेणी के कवि नहीं हैं। इनमें से कुछ लोगों ने तो वास्तव में खूब पश्चात्ताप प्रकट किया है। जिन कवियों का सारा जीवन शब्दों के जोड़ने में ही बीत गया हो, जिन कवियों ने तीसरे दर्जे की कविता करने में ही अपना जीवन बिता दिया हो, उनका अन्त में पश्चात्ताप प्रकट करना तथा सिर धुनना स्वाभाविक ही है। देव जी के निम्नलिखित छन्द से उनकी आंतरिक व्यथा प्रकट होती है—

ऐसो हौं जु जानतो कि जैहै तू विषै के संग,
ए रे मन मेरे, हाथ-पाँव तेरे तोरतो ;
आजु लगि कत नरनाहन की 'नाहीं' सुनि,
नेह सों निहारि हारि बदन निहोरतो।
चलन न देतो 'देव' चंचल, अचल करि,
चाबुक - चितावनीन मारि मुँह मोरतो ;
भारो प्रेम-पाथर, नगारो दै, गरे सों बाँधि,
राधा-बर-बिरुद के बारिधि में बोरतो।

देखने में देव जी की बहुत-सी कविताएँ श्रीकृष्णचंद्र से संबंध रखती हैं, परंतु देव जी ने उक्त छन्द में इस बात को एक प्रकार से स्वीकार कर लिया है कि उन्होंने वास्तव में श्रीकृष्णचन्द्र जी पर कोई कविता नहीं की।

देव जी का अपने मन के ऊपर बिगड़ना बिलकुल स्वाभाविक ही है। देव जी ऐसे कवियों के एक अच्छे उदाहरण हैं, जिन्होंने अधिक कविताएँ श्रीकृष्णचन्द्र जी तथा राधिका जी के संबंध में प्रकट रूप से कीं, परंतु जो यह यह भी भली भाँति जानते थे कि इन कविताओं का वास्तव में श्री कृष्णचन्द्र तथा राधिका जी से कुछ भी संबंध नहीं है। वास्तव में उक्त छंद में देव जी ने अपनी मार्मिक पीड़ा प्रकट की है। इस कथन का यह अभिप्राय नहीं कि केवल देव जी ही ऐसा करते थे। कदापि नहीं। ऐसे और भी अनेक कवि थे, जो अपनी दूषित भावनाओं को श्रीकृष्ण जी तथा राधा जी के बहाने से प्रकट किया करते थे।

यह सब तो था ही, परन्तु रस, अलंकार, ध्वनि तथा रीति आदि विषयों में भी हिन्दी जाननेवाले खूब फँसे हुए थे। जो लोग संस्कृत जानते थे, वे रस तथा अलंकार आदि की प्रशंसा के पुल बाँध देते थे। परन्तु हिन्दी वालों को रस तथा अलंकार आदि म का म ही बने रह गए। वे सदा यही समझते थे कि रस और अलंकार ही साहित्य का सब कुछ है। उनका ऐसा समझना एक प्रकार से स्वभाविक ही था; क्योंकि

रस की उलझन में संस्कृत के बड़े-बड़े विद्वान् भी फँस चुके थे। नाट्य-शास्त्र में भरत मुनि ने नाटक के लिये शांत रस को स्वीकार नहीं किया था। इस पर बहुत मतभेद उठ खड़ा हुआ। रस के और विषयों में भी स्वयं संस्कृत के विद्वानों में झगड़ा उठ खड़ा हुआ था। इस झगड़े ने वास्तव में बड़ा उग्र रूप धारण किया, और इसका क्षेत्र केवल साहित्य के मैदान तक ही परिमित नहीं रहा, किन्तु दर्शन के अखाड़े में भी जा पहुँचा। 'एकावली, नामक ग्रंथ में मीमांसावालों के सिद्धांत का समर्थन किया गया, और रसों की उत्पत्ति के विषय में विवेचना की गई। न्याय-वालों ने इस मत का खूब खंडन किया, और यह बतलाया कि रस अनुमान द्वारा सिद्ध हो सकता है। भट्टनायक नामक संस्कृत के विद्वान् ने एक प्रकार से इन दोनों मतों—मीमांसा और न्याय—के विरुद्ध सिद्धांत का प्रतिपादन किया। और अभिनव गुप्त नामक पंडित ने 'ध्वनि-संकेत' में इसकी खूब आलोचना की। इस कथन से यह न समझना चाहिये कि केवल मीमांसक तथा नैयायिक लोग ही इस विवेचना में सम्मिलित हुए थे। सांख्य का एक सिद्धांत 'मुक्तिवाद' के नाम से विख्यात है। इन लोगों ने सत्त्व, रज और तम के सिद्धांत की सहायता से रस के अनुभव की विवेचना प्रारंभ कर दी। इधर दर्शन के क्षेत्र में तो रसों की विवेचना हो ही रही थी, परन्तु संस्कृत-साहित्य-मर्मज्ञ भी चुप नहीं थे। भानुदत्त ने अपनी रस-तरंगिणी में रसों को लौकिक और अलौकिक, दो भागों में विभक्त कर दिया। महिम भट्ट ने व्यंजना-शक्ति को ही सब कुछ मान लिया था; परन्तु विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण में उनके मत का खंडन किया है। विश्वनाथ का 'साहित्य-दर्पण' आधुनिक ग्रंथ है, और संस्कृत-साहित्य में उसका अच्छा मान है। इसके बनाते समय विश्वनाथ को किसी प्रतिद्वंद्वी के मारने के लिये एक डंडे की आवश्यकता पड़ी थी, और तब उन्होंने मीमांसकों के यहाँ से एक डंडा उधार लिया। कदाचित् उसी से प्रतिद्वंद्वी का सिर फोड़ दिया। बात यह है कि रस की सिद्धि व्यंजना-शक्ति से मानी जाती है, और कुछ लोग

व्यंजना को ही उड़ा देते हैं, जैसा कि नीचे के श्लोक से प्रकट है—

तात्पर्याव्यतिरेकाच्च व्यंजकत्वस्य न ध्वनिः
यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम् ।

इसका आशय यह है—तात्पर्यवृत्ति से भिन्न व्यंजनावृत्ति कुछ भी नहीं है। इसका खूब प्रसार हो सकता है; क्योंकि यह तराजू पर तोली हुई कोई वस्तु नहीं है। इसी का खंडन करने के लिये विश्वनाथ को डंडे की जरूरत पड़ी थी, जैसा कि नीचे के वाक्य से प्रकट है—

"तयोरुपरि 'शब्दबुद्धिकर्मणा विरम्य व्यापाराभावः' इति वादिभिः पातनीयो दंडः।"

संस्कृत साहित्य में रस-संबंधी अनेक ग्रन्थ हैं, और विश्वनाथ ने इनमें से अधिकों देखकर 'साहित्य-दर्पण' का निर्माण किया होगा। तथापि 'साहित्य-दर्पण' में कई त्रुटियाँ हैं, और यह रस की अच्छी विवेचना नहीं कर सके हैं। जब संस्कृत-साहित्य में रस की यह दशा है, तो हिन्दी वालों का उसकी उलझनों में फँसना स्वाभाविक ही है।

हाँ, तो हिन्दी-भाषा रस, अलंकार, ध्वनि, रीति और व्यंजना आदि पचड़ों में पड़ गई, और इनके फेर में ऐसी फँसी कि उसका बाहर निकलना असंभव हो गया। मैं ऐसे सज्जनों को अब भी जानता हूँ, जो अलंकार को ही साहित्य का सर्वस्व माने बैठे हैं।

इस प्रकार हिंदी-भाषा कई वर्षों तक तरह-तरह के बंधनों में जकड़ी रही। हिंदी-भाषा के जकड़ने के लिये एक और बड़ी प्रबल रस्सी तैयार हो गई। बात यह थी कि बहुत कवि बोलते एक भाषा थे, और कविता दूसरी भाषा में कर रहे थे। इस प्रकार ब्रजभाषा ने भी अपने माधुर्य आदि गुणों से खड़ी बोली को जकड़ लिया था। परन्तु यह बात अस्वाभाविक थी। पहले माइकेल मधुसूदन दत्त ने भी अँगरेज़ी-भाषा में ही कविता करना प्रारंभ किया था। उनकी मातृभाषा बँगला थी। उन्हें यह ग़लती बहुत ही शीघ्र मालूम हो गई। तब उन्होंने बँगला में ही रचना करना

आरंभ कर दिया, और अंत में अमर हो गए। यदि उन्होंने अँगरेजी में ही कविता की होती, तो आज उनका नाम भी कोई न जानता।

आज हिंदी इन सब रस्सियों को तोड़कर कविता के मैदान में आ डटी है, और अपनी स्वाभाविकता प्राप्त कर चुकी है। इस संबंध में श्रद्धेय श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय ने वास्तव में पथ-दर्शक का काम किया है, और 'प्रियप्रवास' की रचना कर हिंदी का बड़ा ही उपकार किया है। इसमें संदेह नहीं कि पं० श्रीधर पाठक, बा० जयशंकर 'प्रसाद' मैथिलीशरण जी गुप्त तथा अन्य सज्जनों ने भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण काम किया है, परन्तु 'प्रियप्रवास' ने अपना सिक्का सबसे ऊपर जमा लिया है, और अब सब लोगों को विश्वास-सा हो गया है कि खड़ी बोली में भी उत्कृष्ट कविताएँ हो सकती हैं। हिंदी-साहित्य के लिये यह बड़े सौभाग्य की बात है कि अब हिंदी के कवि अलंकारों की उतनी चिंता नहीं करते। हमें इस बात को कभी नहीं भूलना चाहिये कि रस, ध्वनि तथा अलंकार आदि कवि के दास हैं कवि उनका दास नहीं। रस तथा अलंकार आदि कवि के लिये हैं, कवि इनके लिये नहीं है। इन कथनों का यह अभिप्राय नहीं कि रस और अलंकार से कविता खराब हो जाती है। कदापि नहीं। यदि इनका उचित प्रयोग किया जाय, तो ये सब-के-सब बड़े महत्त्व के विषय हैं, और कविता को वास्तव में अच्छा बना सकते हैं। परन्तु दिमाग को खरोच-खरोचकर विभाव, अनुभाव और स्थायी भावों की खानापूरी करने से कोई भी कवि रस को उत्पन्न नहीं कर सकता।

जब हिन्दी-भाषा ने अपने जन्म-सिद्ध अधिकार को प्राप्त कर लिया है, जब इसने उन सब बेड़ियों को तोड़ डाला है, जो इसे मजबूती से पकड़े और जकड़े हुए थीं, तब कुछ लोग इसे असंगत समझने लगे हैं, और हिन्दी की भावी उन्नति का बाधक समझते हैं। इन लोगों का विचार है कि कविता का मार्ग कुछ इने-गिने छन्दों के भीतर ही अवरुद्ध है। कुछ लोग इन नये छन्दों को देख कर चौंकते हैं, और कहते हैं, ये कौन से छन्द हैं? मैं इन सज्जनों से पूछना चाहता हूँ कि बारह सौ वर्ष

पहले आपके प्यारे दोहा, चौपाई तथा सवैया आदि छन्द कहाँ थे? उनकी तो एक बार अवश्य ही उत्पत्ति हुई होगी? यदि यह बात सच है, तो आप इन नये छन्दों को देखकर क्यों नाक-भौं सिकोड़ते हैं?

तदनन्तर मैं इन सज्जनों से प्रार्थना करना चाहता हूँ कि कविता की धारा कुछ विशेष छन्दों में ही होकर नहीं बहती। आप अपने पुराने छन्दों के इतना पक्षपाती न होइए। वास्तव में छन्दों में कुछ नहीं रक्खा। छन्द-शास्त्र की शक्ति बहुत परिमित है।

कविता का उद्देश्य सत्यं, शिवं और सुन्दरम् है। यदि आप सत्यं और शिवं को छोड़ भी दें, तो यह तो आपको मानना ही पड़ेगा कि कविता सुन्दर होनी चाहिये। यदि ये कविताएँ सुन्दर न जँचें, तो आप को इस प्रकार नहीं चिल्ला उठना चाहिये कि यह बुरा है, इसमें कुछ है ही नहीं, या यह पुराने छन्दों में नहीं है। आपको यह भी स्मरण रखना चाहिये कि सुन्दरता का आदर्श सर्वदा एक-सा नहीं रहता। देश और काल का भी सुन्दरता पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जो कपड़े पुराने लोग पहनते थे, आज आप उन्हें कभी पहनना स्वीकार नहीं कर सकते। इसमें संदेह नहीं कि परिवर्तन से कुछ लोग बहुत घबराते हैं, और कुछ लोग नवीनता के नाम से ही चिढ़ते हैं। परन्तु इन्हें स्मरण रखना चाहिये कि इस परिवर्तन तथा नवीनता से बचना असंभव नहीं, तो कठिन अवश्य है। यदि आपको पुरातत्त्व से कुछ भी प्रेम है, तो आपको पता होगा कि प्राचीन काल और वर्तमान काल में बहुत परिवर्तन हो गया है। यदि आपने ध्यानपूर्वक स्वयं अपने जीवन-काल ही में सब वस्तुओं का निरीक्षण किया है, तो इस परिवर्तन को किसी-न-किसी रूप में अवश्य ही देखा होगा। जब ये सब बातें संसार की सब बातों के लिये सच हैं, तो आप कविता के मैदान को ही इतना संकुचित क्यों रखना चाहते हैं?

इसमें संदेह नहीं कि यदि आपका विचार है कि इस परिवर्तन तथा नवीनता से हानि होने की संभावना है, तो आपको खुले दिल से इसका

घोर विरोध करना चाहिए, और नये लेखकों को खूब लताड़ना चाहिये; परन्तु ऐसी दशा में आपको तटस्थता से बहुत ही अधिक काम लेना चाहिए। आपको यह भी स्मरण रखना चाहिए कि आपके उद्योगों का कविता-कामिनी पर कहीं बुरा प्रभाव न पड़ने पावे। अन्त में मैं आपसे इतनी और प्रार्थना कर देना अपना परम कर्तव्य समझता हूँ कि आप अब वर्तमान कविता-कामिनी को चित्र नहीं समझ सकते, आप अब कविता-कामिनी को असंगत अलंकारों से लाद नहीं सकते। आप निर्जीव कविता-पुतली पर ही आभूषणों को लाद सकते थे। अब तो कविता-कामिनी सजीव हो गई है, और उसकी स्वाभाविक सुन्दरता के सामने ये आभूषण मंद-द्युति हो रहे हैं।

हम लोगों के हृदय में भाव उठते हैं, और जाग्रत होते हैं। इन भावों का भी उतार-चढ़ाव होता है। ये ही भाव कविता की अंतरात्मा हैं। जो कवि प्रतिभाशाली होता है, वह इन भावों के उतार-चढ़ाव को परखता है, और उन्हीं उतार-चढ़ावों के अनुसार अपनी कविता की आकृति बनाता है। यह बात प्रकट है कि वह अपने भावों को शब्दों के द्वारा ही प्रकट करेगा। छन्द तो कविता की अन्तरात्मा के शरीर भी नहीं कहे जा सकते; क्योंकि शब्द ही भावों के शरीर हैं। जो लोग कविता की अन्तरात्मा—भावों—पर उतना ध्यान नहीं देते, और उसके शरीर—छन्दों—को ही सब कुछ मान लेते हैं, वे कविता के तथा स्वयं अपने साथ अन्याय करते हैं। हम लोगों को स्मरण रखना चाहिये कि कविता की अंतरात्मा उसके शरीर से अधिक महत्त्व की है।

यदि आप इस नवीन कविता को पसन्द नहीं करते, तो उसमें दोष निकालिए; उसकी कड़ी समालोचना कीजिए, और उसमें कविता की दृष्टि से ही दोष निकालिए। आप सिद्ध कीजिए कि कविता सुन्दर नहीं है, भाव अच्छे नहीं हैं। आप यह भी दिखलाइए, किन्तु प्रमाण के साथ, कि ऐसी कविता से देश का कल्याण न होगा, और उसमें कोई सत्य बात नहीं है। यदि आप ऐसा नहीं करते, और गाली-गलौज का बाजार

गर्म करते हैं, तो बताइए, क्या आप इन नवीन कवियों के साथ न्याय कर रहे हैं ?

क्या आपने इस ओर ध्यान नहीं दिया कि वर्तमान कवियों की कविताओं के आधार प्रायः उनके अनुभव ही हैं ? क्या यह सौभाग्य की बात नहीं कि ये कविगण व्यर्थ की उड़ान नहीं उड़ रहे हैं ? आपने देखा होगा कि पहले हिंदी के कवि अपने अनुभवों से कुछ भी लाभ नहीं उठाते थे, और उनमें से अधिकांश नायिका-भेद पर ही टूट पड़ते थे ? ये लोग उन्हीं सब विषयों पर कविता करने लगते थे, जिनका ज्ञान इन लोगों को पुस्तकों से ही होता था। ये लोग इस विशाल संसार तथा स्वयं अपने अनुभव से कुछ भी काम नहीं लेते थे। अब हिंदीवाले ऐसा करने लगे हैं। इसे देखकर आपको प्रसन्नता नहीं होती ?

कोई-कोई सज्जन हिंदी-कविता की वर्तमान गति को रोकना चाहते हैं। मैं उनसे पूछना चाहता हूँ, क्या यह संभव है ? क्या यह अच्छा होगा ? क्या मैं आपसे यह प्रार्थना कर सकता हूँ कि आप इसे अब रोक सकते ? हिंदी का भविष्य बड़ा उज्ज्वल है, और ये सब शुभ लक्षण हैं। यदि आप वास्तव में इसे पसन्द नहीं करते, तो इसे सुधारने का प्रयत्न कीजिए। परन्तु रोकने का प्रयत्न न कीजिए; क्योंकि आप इसे रोक नहीं नहीं सकते। हाँ, विश्वास कीजिए—अपराध क्षमा हो—आप इसे रोक नहीं सकते।

पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी

साहित्य और जीवन

कुछ वर्ष पहले बात है। उत्तर भारत के एक प्रसिद्ध नगर में प्लेग फैलने की आशंका थी। चूहे मर रहे थे। दैवदुर्विपाक से इन्हीं दिनों वहाँ के साहित्य-रसिकों के हृदय-सरोवर में काव्य-प्रेम की अदम्य मौज या लहर आई हुई थी। जगह-जगह कवि-सम्मेलन हो रहे थे। कुछ सज्जन हमारे पास भी पधारे और बोले—"आप भी अजीब आदमी हैं। इस नगर में रहते हुए भी आप स्थानीय कवि-सम्मेलनों में भाग नहीं लेते। मालूम होता है कि आप में साहित्य-प्रेम का बिलकुल ह्रास हो गया है। लोग आपकी बेहद निन्दा कर रहे हैं।..."

मैंने उस समय उन काव्य-प्रेमियों की सेवा में यही निवेदन किया—"लोग मेरे बारे में क्या कहते हैं, इसकी मुझे चिन्ता नहीं। 'वे कहते हैं, क्या कहते हैं, कहने दो।' प्रत्येक स्वाभिमानी साहित्य-सेवी को ये तीन वाक्य अपने कमरे में टाँग देने चाहिये। पर मैं, गुस्ताखी माफ हो तो, एक सवाल आपसे पूछता हूँ—जनाब, यह तो फरमाइए कि जब शहर में चूहे मर रहे हों, उस वक्त क्या मुनासिब है—कवि-सम्मेलन करना या चूहे पकड़ना ?"

आगन्तुक महानुभाव हँसने लगे, और उनमें से एक बोले—"तो क्या आप कवियों से चूहे पकड़वायेंगे ?"

मैंने कहा—"इसमें हर्ज क्या है ? कवित्व क्या जीवन से और मनुष्यत्व से भी अधिक ऊँची चीज है ? अपने घर, मुहल्ले अथवा नगर के स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिये अगर हम साहित्य-सेवियों को पाखाने भी साफ करने पड़ें, मोरियाँ भी धोनी पड़ें, तो उनके लिये हमें तैयार रहना चाहिये। चूहे पकड़ना तो एक मामूली सी बात है। मैं तो गद्य-लेखक हूँ, यदि कवि लोग अपना दर्जा कुछ ऊँचा समझते हैं, तो हम गद्य-लेखक

पैसा चूहा ले लेंगे, कवियों को दो पैसे चूहे का हिसाब पड़ जायगा ! आप और क्या चाहते हैं ? "

मामला हँसी में उड़ गया, और मैं भी कवि-सम्मेलन और प्लेग तथा कवि और चूहों के किस्से को भूल गया। पर तीन-चार महीने बाद फिर वही प्रश्न बड़े विकट रूप में सामने आ गया !

साहित्य-कलरव या मोरी-मच्छर ?

एक सौ साढ़े चार डिग्री का बुखार चढ़ा हुआ था। सिर पर बर्फ रखी जा रही थी। यह घटना हमारे जन्मस्थान फीरोजाबाद की है, जो चूड़ियों के लिये हिन्दुस्तान भर में प्रसिद्ध है और जो दरअसल उसकी कीर्ति का मुस्तहक है—यानी सुन्दर चूड़ियों के लिये और गन्दी नालियों के लिये भी। हाँ, तो मैं बुखार में पड़ा बकबका रहा था, और आप जानते ही हैं कि जब टेम्परेचर हाई होता है, तब कल्पनाशक्ति और भी तीव्र हो जाती है। मैं सोच रहा था कि यह मलेरिया-बुखार है, मलेरिया मच्छरों से पैदा होता है, और मच्छर पैदा करने के कारखाने हमारे आस-पास पड़ोस में ही बहुत से खुले हुए हैं। हमारे चौबे-मुहल्ले में ही, जिसकी जन-संख्या जन-बच्चा-सहित कुल जमा २००-२२२ होगी, कई डाक्टर उत्पन्न हो चुके हैं, और वे ऊँचे-से-ऊँचे पदों पर पहुँच चुके हैं तथा विद्यमान हैं; पर मुहल्ले की गन्दगी ज्यों की त्यों बनी है ! और हमारे घर सौ गज की दूरी पर हमारे एक भूतपूर्व सहपाठी के एक सुपुत्र रहते हैं, जिन्होंने अपनी अनुभवहीनता के कारण 'साहित्य-कलरव' नामक मासिक पत्र के ४।७ अंकों में चार सौ रुपये घाटे के दे दिए हैं। ये रुपये मोरी में गए। मैं सोचता था—वर्तमान परिस्थिति में मोरियों के मच्छरों को मारना अधिक लाभदायक है या 'साहित्य-कलरव' निकालना ?

इस गम्भीर प्रश्न पर मैंने बहुत देर तक विचार किया, और मेरे साहित्यसेवी मित्र मुझे क्षमा करें, यदि मैं उन्हें बतलाऊँ कि मेरा फैसला 'साहित्य-कलरव' के खिलाफ रहा। इसके बाद मुझे तीन बार मलेरिया-बुखार इन चार महीनों में आ चुका है, और हर बार मैं इस विषय पर

विचार करता रहा हूँ कि आखिर हमारी साहित्य-सेवा का जीवन से कुछ सम्बन्ध भी है ?

अभी मैंने पत्रों में भारत-सरकार की रिपोर्ट पढ़ी है कि भारतवर्ष में ६० लाख आदमी मलेरिया से बीमार पड़ते हैं और १३-१४ लाख इसी के कारण काल-कवलित हो जाते हैं। क्या ही अच्छा हो, यदि हम निरर्थक कवि-सम्मेलनों को बन्द करके साधारण जनता में कुनैन बाँटें !

२८ वर्ष का नशा

ऊपर की बात हमारे कवि-बन्धुओं को—खास तौर पर दंगली कवियों को—भले ही कुनैन की तरह कड़वी लगे, पर अब वक्त आ गया है, जब मीठी-मीठी बातें कहने के बजाय स्पष्टवादिता से काम लिया जाय। हम लोगों को—लेखकों और कवियों को—कीर्ति का नशा रहता है, और इस नशे का मुझे भी कुछ तजुर्बा है। पत्रों में लेख छपते हैं, अपना नाम छापे में छपा देखकर बड़ी खुशी होती है, और लेख लिखे जाते हैं, फिर छपते हैं और इस प्रकार लेखक को प्रसिद्धि मिल जाती है। यह कोई नहीं पूछता कि वास्तविक जीवन से उन लेखों का कुछ सम्बन्ध भी है ! जून सन् १९१२ में मेरा प्रथम लेख काशी के 'नवजीवन' में छपा था, और उसका नाम था, 'स्वावलम्बन'। यह अंग्रेजी पुस्तक 'सेल्फ हेल्प' के आधार पर लिखा गया था। यदि लेखक के अनुसार मैंने अपना जीवन-नक्रम बनाया होता, तो आज आप मुझे अवश्य ही स्वावलम्बी पाते। पर हम लेखक लोग, बकौल बाबा तुलसीदास, "पर उपदेश कुशल" हैं। अट्ठाईस वर्ष तक खुराफात लिखने के बाद भी जीवन-संबंधी मेरा व्यवहारिक ज्ञान बहुत ही कम बढ़ा और इन मौके पर आकर परीक्षा में मैं बिलकुल फेल हो गया।

पूज्य द्विवेदी जी के यहाँ जब मैं तीसरी बार दौलतपुर की तीर्थ-यात्रा करने गया था, तब तक ग्राम-संगठन पर 'विशाल भारत' में अनेक लेख छप चुका था। द्विवेदी जी मुझे अपने बाग की ओर ले गये। बाग में उन्होंने कुछ प्रश्न किए; पर पौधे की उनके विषय में कोरमकोर थे।

कई वृक्षों के नाम उन्होंने पूछे; पर मैं उन्हें पहचान भी नहीं सका—न रीठे का पेड़ पहचान सका और न महुए का। बातचीत के सिलसिले में द्विवेदी जी ने पूछा—"अपने आगरा जिले को भली भाँति जानते हो? अपने डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की रिपोर्ट पढ़ी है?"

मैं चुप था, क्या जवाब देता! फिजी, केनिया, जंजीबार, युगाण्डा टांगानिक्या इत्यादि के चक्कर में जिन्दगी के बीस वर्ष बरबाद कर चुका था; पर न तो आगरे जिले का कभी भ्रमण किया था और न कभी आगरा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की रिपोर्ट ही पढ़ी थी! कभी क्यों, आज तक नहीं पढ़ी।

पूज्य द्विवेदी जी झुँझला कर बोले—"आखिर बैठे-बैठे क्या किया करते हो? कुछ पढ़ते लिखते भी हो? न तुमने काश्तकारी-कानून का अध्ययन किया है, न ग्रामीण पंचायतों के बारे में कुछ जानते हो। खेती और किसानों के रहन-सहन के बारे में तुम्हारा ज्ञान होगा ही क्या? सम्पादक यों ही बन बैठे हो?"

बड़ी शर्म आई। हिन्दी-पत्रकारों का इन विषयों पर कितना ज्ञान है, यह मैं कह नहीं सकता। लेकिन अगर कहीं हिन्दी-पत्रकारों के लिये कोई विद्यालय खुले, तो छात्र के रूप में उसमें भर्ती होने की इच्छा जरूर है।

पत्रकार-विद्यालय और समाज-विज्ञान-कालेज

हिन्दी जगत् में इस समय इन दो विद्यालयों की जरूरत है। नये-नये कालेज हमारे यहाँ खुलते जाते हैं, और उनमें वे ही पुराने विषय पढ़ाये जाते हैं—ऐसे विषय, जिनका विद्यार्थी के भावी जीवन से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं! पत्रकार प्रौढ़ों के शिक्षक हैं, जनमत को बनाना-बिगाड़ना उनके हाथ में है और उनके द्वारा समाज की बड़ी भारी सेवा हो सकती है। अतएव यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रयाग, काशी, दिल्ली, पटना, आगरा और नागपुर विश्वविद्यालयों द्वारा इन विषयों की पढ़ाई का प्रबन्ध किया जाय। बम्बई के 'टाटा समाज-विज्ञान-विद्यालय' की तरह की संस्था

उत्तर-भारत में होनी चाहिये। जो ग्रन्थ वहाँ अंग्रेजी में पढ़ाये जाते हैं, उनका हिन्दी में अनुवाद कराना चाहिये, अथवा वैसे ही मौलिक ग्रन्थ लिखाये जाने चाहियें। दूरदर्शिता के खयाल से यह काम अत्यन्त आवश्यक है। जब भारत स्वाधीन हो जायगा—आज न सही, आठ-दस वर्ष में ही सही—तो उस समय स्थानीय प्रश्नों का महत्त्व अखिल भारतीय प्रश्नों के समान ही हो जायगा। उस समय गुलामी का रोना रोने और विदेशी शासकों की निन्दा करने के बजाय हमें देश के कोने-कोने में छोटे-बड़े नगरों तथा ग्रामों में समाज-सेवा के अनेक रचनात्मक कार्य प्रारम्भ करने पड़ेंगे। उन कार्यों के लिये कार्यकर्ताओं को अभी से विशेष ट्रेनिंग देने की जरूरत है।

समानशील लेखकों का विचार-परिवर्तन

उपर्युक्त प्रश्न पर तथा अन्य ऐसे ही सवालों पर विचार करने के लिये उन लेखकों का, जिनकी रुचि मुख्यतया समाज-सेवा की ओर है, मिलना जरूरी है। यह काम कोई परोपकार का नहीं, बल्कि स्वार्थ का है। हम लोग अपने आसपास के मानव-जगत् से ही नहीं, पशु-पक्षी और वृक्ष-जगत् से भी बहुत कम परिचित हैं। बड़ी बेशर्मी के साथ मैं आपके सामने अपने अज्ञान का एक उदाहरण और पेश करूँगा। ओरछा-राज्य के रेवेन्यू-कमिश्नर ने दो वर्ष हुए मुझे दावत दी थी। उस समय उनके आँगन में एक पौधे को लगा देखकर मैंने कहा—"ठाकुर साहब, यह क्या वृक्ष है?"

वे हँसकर बोले—"चौबे जी, आप आलू भी नहीं पहचानते!"

चौबे जी चालीस-पैंतालीस वर्ष से आलू खाते आ रहे थे; पर आलू का पौधा जिन्दगी में पहली ही बार देखा था! इसके बाद उत्साह में भरकर हमने किस प्रकार आलुओं की खेती की और साम्यवाद का एक नुस्खा कैसे ईजाद किया, इसकी कहानी फिर कभी सुनायेंगे। इस वक्त सिर्फ इतना बतला देना काफी होगा कि आलुओं की खेती पर इक्कीस रुपये व्यय करके कुल जमा एक रुपये पाँच आने के आलू हमने उगाए थे,

और इस प्रकार नकद १६ रुपया ११ आने का मुनाफा उल्टी दिशा में उड़ाया था !

पशु-पक्षी-जगत्

पक्षियों से परिचय की बात लीजिए। कौआ, तोता, मोर, खुटक भड़ैया, पिड़कुलिया, गलगलिया, चील, मैना, कोयल, उल्लू इत्यादि पन्द्रह-बीस पक्षियों को छोड़कर और किसी को मैं नहीं पहचानता, और सो भी इनकी शकल से परिचित हूँ। इनके स्वभाव, रहन-सहन इत्यादि के विषय में मेरा ज्ञान अत्यल्प है। चिड़ियों के प्रवास के बारे में मैंने पत्रों में पढ़ रखा था ; पर प्रवासी चिड़ियों को मैंने तब तक पहचाना ही नहीं था, जब तक की ओरछा-राज्य के सुन्दर सरोवरों पर उनके झुण्ड-के-झुण्ड उतरते हुए नहीं देखे। इनमें से सहस्रों साइबेरिया से उड़कर भारतवर्ष को आती हैं और फिर वहीं वापस लौट जाती हैं। चिड़ियों के विषय में कोई भी उत्तम पुस्तक हमारी भाषा में नहीं है। बुलबुल भी मैंने बहुत वर्षों बाद देखी और चण्डूल को तो आज तक नहीं देखा! चण्डूल को कोई बहुत ही भद्दा-भोंडा पक्षी समझे हुए था। पर झाँसी के कविवर रामचरण जी हयारण ने मुझे बतलाया कि एक-एक चण्डूल की कीमत सात-सात सौ आठ-आठ सौ रुपये होती है। "बाद मुद्दत के फँसा है ये पुराना चण्डूल"—इस पद्य को पढ़कर मैंने अपने हृदय में चण्डूल के प्रति जो भ्रमात्मक धारणा स्थापित कर ली थी, वह मुझे सहर्ष दूर कर देनी पड़ी।

और अब अड़तालीस वर्ष की उम्र में मैंने 'बुलबुल का आशियाना' भी देख लिया है। एक बेवकूफी मैंने की। बुलबुल के घोंसले को मैंने कौतूहलवश बहुत नजदीक से देखा और कई बार देखा। इस कारण उस लज्जाशील भयभीत बुलबुल ने वह आशियाना छोड़ ही दिया! तब मैंने उस पद्य का मतलब समझा—"बुलबुल ने आशियाना चमन से उठा लिया।"[1]

[1] इस सिलसिले में एक खुशखबरी यह भी सुना दूँ कि गत ६

चिड़ियों के स्वभाव को अध्ययन करना और उनके विषय में ग्रंथ लिखना कोई आसान काम नहीं है। यह भी कोई महात्मा जी का जीवन-चरित नहीं है, जो कि इधर-उधर से कटिंग लेकर दस बारह दिन में तैयार कर दिया जाय! एक-एक चिड़िया के लिये लेखक अपना जीवन खपा सकता है; पर हम लोग तो 'काता और ले दौड़े' के सिद्धान्त के अनुयायी हैं। पुरानी लकीरों पर चलने में ही हमें आनन्द आता है। शायर-सूर-सपूतों की तरह हिन्दी-लेखक बिना लीक चलना कब सीखेंगे?

मट्टू बैल और चाय की भैंस

पशुओं के विषय में भी हमारा ज्ञान बहुत कम है। नर-पशुओं की बात जाने दीजिए, उन्हें तो हम थोड़ा बहुत जानते भी हैं और वे भेड़ियों की तरह हर मुल्क और मिल्लत में पाये जाते हैं। मट्टू बैल का महात्म्य मैंने बहुत सुन रखा था; पर उनके दर्शन किये कुल साल भर ही हुआ है। अपने बगीचे के लिए सत्तर रुपये खर्च करके एक जोड़ी बैल मउरानीपुर से मँगाए। जब वे पधारे, तो भावुकतावश मैंने उनकी खूब आवभगत की। हमारे एक किसान-बन्धु ने कहा, ये दूर चलकर आए हैं, इसलिए थकावट दूर करने के लिए इन्हें शराब मिलनी चाहिये। अच्छा साहब, महुए की बनी हुई दो बोतल शराब के लिये बारह आने पैसे भी दिये गए। दो तीन दिन उन्हें खूब आराम (जिसे साहित्यिक भाषा में 'पूर्ण विश्राम' कहना चाहिये) करने दिया, फिर अपने आदमियों से कहा कि इनसे काम लो। यह देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि दोनों के दोनों बैल मेरी तरह ही आरामतलब निकले। लेट गए और उठने का नाम ही नहीं लेते! पूछ मरोड़ी गई, कुछ ठुकविया भी हुई, अनेक उपाय किये गए; पर वे तो अपने सिद्धान्त के पक्के

अगस्त को मैंने हिन्दी-नायिकाओं के 'प्रानन के प्यासे' पपीहा को भी देख लिया है। प्राचीन संस्कारों के कारण मन में आया कि इस हत्यारे पक्षी को गोली मार दूँ, पर दो बन्दूकें पास रहने पर भी निशाना लगाना नहीं सीखा! खैर, पपीहा बच गया। —लेखक

घोर सत्याग्रही थे। तब लोगों ने मुझे समझाया, मट्ठे बैल इन्हीं को कहते हैं। कहने की ज़रूरत नहीं कि यह शिक्षा मुझे बहुत महँगी पड़ी। बड़ी मुश्किल से वे बदले गए, और मेरी गाँठ के २० बीस रुपये खर्च कराके और मुझे बछिया की ताऊ सिद्ध करके वे चले गए! फिर भी चाय की भैंस के मुकाबले में यह सबक सस्ता रहा। नकद बयालीस रुपये में मैंने एक भैंस खरीद ली है, जो बस चाय बनाने लायक दूध देती है! उसका जीवन-चरित मैं लिख रहा हूँ। यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि मैं 'हरजाई' शब्द का अभिप्राय समझ गया हूँ और मवेशीखाने की उपयोगिता में विश्वास करने लगा हूँ।

सपरिश्रम सरकारी आतिथ्य

कहीं श्रोताओं को यह भ्रम न हो जाय कि मैं ही हिन्दी-जगत का 'मूर्खशिरोमणि हूँ', यह बात बतला देना ज़रूरी समझता हूँ कि हमारे साहित्य-संसार में कितने ही ऐसे व्यक्ति होंगे, जो आसपास के पशु, पक्षी वृक्ष तथा मानव-जगत् के विषय में मुझसे भी अधिक 'लाल बुझक्कड़' हैं। हम लोग तो किसी प्रकार क्षमा भी किये जा सकते हैं; पर कितने ही लेखक ऐसे हैं, जिन्हें 'जरायम पेशा' कहना चाहिए। उदाहरण के लिये उन व्यक्तियों को लीजिए, जिन्होंने हिन्दी में कामशास्त्र पर किताबें लिखी हैं। उनमें दो-तीन व्यक्तियों को छोड़कर शेष का ज्ञान इस विषय पर न कुछ के बराबर है। बस, इधर-उधर से लेकर चाहे जो आदमी कामशास्त्र पर पुस्तक लिख देता है! आप जानते ही हैं कि मैं साहित्य में किसी भी सरकार के शासन का घोर विरोधी हूँ। सार्वजनिक मत या 'पबलिक ओपिनियन' का नियन्त्रण ही इसके लिये पर्याप्त समझता हूँ। फिर भी यदि कोई सरकार हिन्दी के उन कामशास्त्रियों को, जिन्होंने अनधिकारपूर्वक इस विषय पर छोटी-मोटी पुस्तकें लिखी हैं, पकड़-पकड़ कर तीन-तीन वर्ष के लिये अपने यहाँ सपरिश्रम आतिथ्य प्रदान कराये, तो मैं एक शब्द भी इस सरकारी मेहमानदारी के विरोध में नहीं लिखूँगा। आवश्यकता इस बात की है कि इस विषय पर अधिकारी

व्यक्तियों द्वारा सरल-से-सरल भाषा में और सस्ते-से-सस्ते ग्रन्थ लिखाये जावें। 'सेक्स' या स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध का विषय अत्यन्त महत्वपूर्ण है, और विद्यार्थी-जीवन में ही उसकी मोटी-मोटी बातें सात्विक ढंग पर पढ़ाई जानी चाहिये। वात्स्यायन ने जिन्दगी भर तपस्या करके कामशास्त्र पर अपना ग्रन्थ लिखा था, और वात्स्यायन के आधुनिक अवतार ऋषिवर हैवलॉक एलिस पचास वर्ष तक इसी विषय का अध्ययन करते रहे; पर हमारे हिन्दी-लेखक इसकी जरूरत ही नहीं समझते!

गृहस्थों का अज्ञान

साधारण गृहस्थ लोग भी इस विषय में बहुत कम जानते हैं, और जो कुछ ज्ञान उन्हें प्राप्त होता भी है, वह बहुत धक्के खाकर और अनेक दुर्घटनाओं के बाद। हमारे एक सबसे बड़े शत्रु या यों कहिए सबसे बड़े मित्र हैं, जिन्हें 'प्रसूति' के अर्थ तब मालूम हुए, जब आप 'प्रसूति' में अपनी पत्नी को खो बैठे! चार बच्चों के बाप होने पर भी आप प्रसूति के विषय में सोलह आने अनभिज्ञ थे!

प्रकाशक क्या कर रहे हैं?

सरकारी शराबबन्दी तथा मादक-द्रव्य-निवारिणी सभाओं के तमाम व्याख्यानों के बावजूद हिन्दी के ९५ फीसदी प्रकाशक भाँग, गाँजा या अफीम का अमल करते हैं या चरस की दम लगाते हैं, यह मेरा अटल विश्वास है। आप उनके यहाँ से प्रकाशित ग्रन्थों की सूची देख जाइए, तो आपको फौरन पता लग जायगा कि इन प्रकाशकों को समय की गति का कुछ भी खयाल नहीं है, जीवन के प्रश्नों से उनका कुछ भी परिचय नहीं है और उनमें से अधिकांश अपने को सर्वज्ञ समझे बैठे हैं। विलायत के अच्छे अच्छे प्रकाशक अपने यहाँ भिन्न-भिन्न विषयों के विशेषज्ञ रखते हैं, जिनकी सम्मति से वे ग्रन्थ लेते और छपाते हैं; पर हमारे यहाँ के प्रकाशक मुफ्त में भी विशेषज्ञों की सम्मति नहीं लेना चाहते! हाँ, पुस्तकों को छपाने के बाद बिना जिल्द की एक प्रति भेजकर उस पर विस्तृत आलोचना चाहने वाले प्रकाशकों की हमारे यहाँ कमी नहीं!

अपनी बारह आने की किताब पर (जो उन्हें बारह पैसे में पड़ी होगी) आपके बारह रुपये का समय माँगने के अव्यापार में वे अवश्य कुशल हैं ! यदि प्रकाशकों में कुछ भी बुद्धि होती, तो वे स्वयं आपस में मिलकर इस बात की जाँच के लिये एक कमेटी मुकर्रर करते कि साधारण जनता अथवा विशेष वर्गों के लिये किस-किस प्रकार के साहित्य की जरूरत है।

आखिर हम क्या चाहते हैं ?

श्रोता लोग पूछ सकते हैं—"आप कवियों से चूहे पकड़वाना चाहते हैं, 'साहित्य-कलरव' बन्द कराके मोरी के मच्छरों पर धावा बोलना चाहते हैं, काम-शास्त्री लेखकों को जेलखाने भेजना चाहते हैं, फिर आखिर आप चाहते क्या हैं ? क्या कला और सौन्दर्य के प्रति आपके हृदय में कुछ भी प्रेम नहीं है ?" ऐसे प्रश्न-कर्ताओं की सेवा में मैं यह निवेदन कर देना चाहता हूँ कि मैं कला तथा सौन्दर्य का उतना ही प्रेमी हूँ, जितना कि एक मामूली लेखक को होना चाहिये ; पर हर चीज का एक वक्त होता है, और युग-धर्म के अनुसार कला और सौन्दर्य का उपयोग विशेष उद्देश्यों को लेकर होना चाहिये। यदि आपके नगर के शौचालय अत्यंत गंदे हैं और उनसे हर साल हैजा फैलता है, तो आपके यहाँ की साहित्य-समिति पर जितना रुपया व्यय होता है, उसमें से कुछ अंश इस गन्दगी को दूर करने के लिये खर्च होना चाहिये। आखिर यह हमारे हृदय तथा मस्तिष्क की भीतरी अस्वच्छता है, जो प्रकट रूप में हमारी गन्दी गलियों तथा सड़कों के रूप में सामने आती है। सुप्रसिद्ध नीग्रो लीडर बुकर टी० वाशिंगटन ने कहा था—"किसी जाति की सभ्यता या असभ्यता का अन्दाज उसके पाखानों की सफाई या गन्दगी को देखकर लगाया जा सकता है।"

आयरलैंड के सुप्रसिद्ध कवि तथा कलाकार जार्ज रसेल (ए० ई०) ने अपनी पुस्तक 'नेशनल बीइंग' में एक बड़े मार्के की बात लिखी थी—"सभी व्यक्तियों का यह कर्त्तव्य है, यह उनकी जिम्मेवारी है, कि वे अपने

अन्तर में जिस सौंदर्य की कल्पना करते हैं, तदनुसार यथासम्भव अपनी बाह्य-परिस्थिति को भी बनावें। सौंदर्य-प्रेमी आदमी कभी ऐसे घर में रहना पसन्द नहीं करेगा, जहाँ सब चीजें विकृत रुचि की परिचायक हों। बुद्धि-प्रधान मनुष्य अव्यवस्थित समाज से घृणा ही करेगा। हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि बाह्य-परिस्थितियों से मनुष्यों के आंतरिक जीवन का पता लग सकता है। आयरलैंड के वे गन्दे ग्राम तथा छोटे नगर, जहाँ शराब की दूकानों की भरमार है, जहाँ स्वच्छता तथा सुन्दरता की सर्वथा उपेक्षा की जाती है, दरअसल उनके निवासियों के चरित्र के अनुरूप ही हैं, उनके गन्दे रहन-सहन के प्रतीक हैं। जभी इन निवासियों में बौद्धिक जीवन का विकास होगा, तभी ये चीजें बदलेंगी; लेकिन इसके भी पूर्व उनमें आध्यात्मिक भावना का प्रवेश होना चाहिये। ज्यों-ज्यों व्यक्तियों के चरित्र में परिवर्तन आता जाता है, त्यों-त्यों घर-घर और ग्राम-ग्राम में संस्कृति तथा सभ्यता का रूप भी बदलता जाता है। जब हम राष्ट्र की आत्मा में एक उच्च जगत का निर्माण करना प्रारम्भ कर देते हैं, तब हमारे देश का बाह्य रूप भी सुन्दर तथा सम्मान-योग्य भी बन जाता है।......कोरमकोर कर्मशील पुरुषों की अपेक्षा हमें इस समय ऐसे विद्वानों की—अर्थशास्त्रियों, वैज्ञानिकों, विचारकों, शिक्षा-विशेषज्ञों तथा साहित्य-सेवियों की—अधिक आवश्यकता है; जो जातीय ज्ञान के क्षेत्र को, जो इस समय गम्भीर रेगिस्तान के समान है, विचारों की धारा से सींच कर जरखेज बना दें।"

कवीन्द्र का आदेश

कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक पुस्तक 'सिटी एण्ड विलेज' में युगधर्म के तकाजे को बड़ी खूबी के साथ बतलाया है। उन्होंने जो लिखा है उसका हिंदी भाषान्तर इस प्रकार है :—

"हमारा उद्देश्य यह है कि ग्राम-जीवन की नदी की तह में, जो झाड़-झंखाड़ों और कूड़ा-करकटों से भर गई है और जिसमें प्रवाह नहीं रहा, आनन्द की लहर की बाढ़ ला दें। और इस कार्य के लिए हमें

विद्वानों, कवियों, गायकों तथा कलाकारों के सम्मिलित प्रयत्न की आवश्यकता है। ये सब मिल कर अपनी-अपनी भेंट (शुष्क ग्राम-जीवन को सरस बनाने के लिए) लायेंगे। यदि ये लोग ऐसा नहीं करते, तो समझना चाहिये कि ये जोंक की तरह हैं, जो ग्रामवासियों का जीवन-रस चूस रहे हैं और उसके बदले में उन्हें कुछ भी नहीं दे रहे। इस प्रकार का शोषण जीवन-रूपी भूमि की उर्वरा-शक्ति को नष्ट कर देता है। इस भूमि को बराबर जीवन-रस मिलता ही रहना चाहिये, और उसका तरीका आदान-प्रदान ही है; जो उससे कुछ ले, वह उसे किसी रूप में वापस दे और इस प्रकार दान-प्रतिदान का चक्र बराबर चलता रहे।"

कवीन्द्र ने इन थोड़े-से शब्दों में लेखकों, कवियों, गायकों और कलाकारों के लिये एक महान सन्देश दे दिया है। कवीन्द्र कोरमकोर कल्पनाशील व्यक्ति ही नहीं हैं। उन्होंने जीवन को पूर्ण रूप में देखा है, और मानव समाज के सर्वांगीण विकास के लिये उनका आदर्श, जिसे कार्य-रूप में परिणत करने के लिये उन्होंने शान्तिनिकेतन, विश्व-भारती और श्रीनिकेतन की स्थापना की है, हिन्दी-जनता के लिये अनुकरणीय है। उनका श्रीनिकेतन शान्तिनिकेतन का पूरक है। वे जीवन को शुष्क नहीं बनाना चाहते। उनके वर्षोत्सव, शरदोत्सव और वसन्तोत्सव को जिन्होंने देखा है, वे कह सकते हैं कि कवीन्द्र जीवन को एकांगी बनाने के सख्त विरोधी हैं। क्या ही अच्छा होता, यदि हिंदी लेखकों, कवियों, गायनाचार्यों और विद्वानों का कोई डेपुटेशन शान्तिनिकेतन तथा श्रीनिकेतन की यात्रा इस उद्देश्य से करता कि हम वहाँ की विशेषताओं का अध्ययन करके उन्हें हिंदी-भाषा-भाषियों की संस्थाओं में लायेंगे। कवीन्द्र रवीन्द्र वस्तुतः महान कर्मयोगी भी हैं।

सबसे बड़ा कवि कौन है ?

यदि कवि के मानी हैं द्रष्टा, जो बहुत दूर की देख सके, जो कल्पना के आकाश में विचरण कर सके, यही नहीं, जो अपनी कल्पना को मूर्त रूप देने के लिये निरन्तर प्रयत्न करता हो और जिसका व्यक्तित्व उसके

प्रत्येक वाक्य एवं प्रत्येक शब्द के पीछे बोलता हो, तो यह कहना पड़ेगा कि महात्मा गांधी इस युग के सबसे महान कवि हैं। कोरमकोर छंदबद्ध पद्य लिखने वाले जीव कवि नहीं। किसी महान लेखक ने कहा था— "कोरमकोर विचार बिना कार्य के वैसा ही है, जैसा गर्भपात।" और हमें अपने साहित्य-क्षेत्र को इस पाप से—शक्ति के इस अपव्यय से—बचाना है।

हमारा ध्येय क्या हो ?

लेखक का काम खास तौर पर दुभाषिये का है। वह प्रकृति का दुभाषिया मानव-समाज के लिये है और स्वयं मानव-समाज के एक भाग का दूसरे भाग के लिये। विश्व में तथा मानव-जगत् में इस समय जो इतना कलह मचा हुआ है, उसका एक कारण यह भी है कि संसार में उपयुक्त दुभाषियों की कमी है। इसके सिवाय अन्याय तथा अत्याचार के विरुद्ध संग्राम करने के लिए कटिबद्ध रहना भी लेखक का ही कर्तव्य है। यह जमाना विचार-जगत् में विचरने का नहीं है, यह है अपने विचारों को कार्यरूप में परिणत करने का युग। किसी ने रोमाँ रोलाँ से पूछा था—"आप नवयुवकों के लिये क्या संदेश देंगे ?"

उन्होंने उत्तर दिया—"नवयुवकों को मेरा संदेश एक वाक्य में आता है—विचारों से कार्य को अलग मत करो। कार्य दो प्रकार के होते हैं। एक तो निकट का, अभी होने का और दूसरा दूर का, यानी भविष्य का। ऐसा न होना चाहिये कि दूर के कार्य के कारण हम वर्तमान कर्तव्य की उपेक्षा करें अथवा वर्तमान कार्य हमारी दृष्टि को संकुचित कर दे और विचारों का क्षितिज हमारी आँखों से ओझल ही हो जाय। जो 'बुद्धि-जीवी' वास्तव में सच्चा और सजीव है, वह उपर्युक्त दोनों कर्तव्यों को साथ-साथ निबाहेगा; वह एक के लिये दूसरे का परित्याग न करेगा। जो विचारक है, वह अपने विचारों द्वारा भिन्न-भिन्न कार्यों की धारा को प्रभावित करने का प्रयत्न करेगा। जो विचार क्रियाशील नहीं है, वह विचार दरअसल विचार ही नहीं है, वह तो कोई स्थिर चीज है—मुर्दा

है ! आजकल हमारे समाज के विशेष व्यक्ति जिस सौंदर्य-उपासना का ढोंग रचते हैं और 'विचारों का उद्देश्य विचार' बतलाते हुए कार्य-क्षेत्र से भागते हैं, वह सौन्दर्योपासना वास्तव में बाँझ है और वह पतन के गढ्ढे के किनारे पर ही है। उसमें मुर्दे की सड़ाँद आने लगी है। जो क्रियाशील है, वही जीवित है।"

रोमाँ रोलाँ का कथन वस्तुतः सोलह आने ठीक है। हमारे जो लेखक अथवा कवि केवल अपने मन-मन्दिर में प्रगतिशील बनने का अभिमान करते हैं; पर जिनके जीवन के रहन-सहन तथा नित्यप्रति के कार्यों में वही पुरानी प्रतिक्रियात्मक पद्धति विराजमान है, वे साधारण जनता को कभी स्फूर्ति दे सकेंगे, इसकी कोई सम्भावना नहीं। जिनका हम उद्धार करना चाहते हैं, उनके बीच में जाने से झिझकते हैं, इससे अधिक विडम्बना की बात क्या हो सकती है ? और सच तो यह है कि यह 'उद्धार' शब्द ही गलत है। हमें दूसरों का नहीं, अपना 'उद्धार' करना है।

साहित्य और जीवन का सम्पर्क

एक वाक्य में यों कहिए, हम साहित्य को अपने चारों ओर के जीवन के सम्पर्क में लाना चाहते हैं। चारों ओर से हमारा अभिप्राय केवल अपने ग्राम, नगर या मंडल अथवा जिले का ही नहीं है। संसार की प्रगति से जो नावाकिफ है, जगत की घटनाएँ जिसे प्रभावित नहीं करतीं, उसके प्रति जो संवेदनशील नहीं है, वह दरअसल लेखक या कवि नहीं। उस दकियानूसी जीव को तो किसी अजायबघर में स्थान मिलना चाहिए। वास्तव में हमें आवश्यकता है ऐसे सैकड़ों लेखकों तथा कवियों की—जिनका मस्तिष्क भले ही आकाश में हो, पर जिनके पैर ठोस ज़मीन पर हों—जिनका दृष्टिकोण अखिल भारतीय ही नहीं, बल्कि अखिल मानवीय भी हो; पर जो एक परिमित क्षेत्र में अपनी सारी शक्तियों को केन्द्रित करके आसपास की जनता के लिए ज्ञान तथा संस्कृति के प्रकाशपुंज या 'डाइनेमो' बन जायँ।

साहित्यिक क्या करें ?

हमारे पास इस प्रश्न का केवल एक ही उत्तर है—"जैसा जिसकी अन्तरात्मा कहे, वह वैसा करे।" यह अपनी-अपनी योग्यता, रुचि, सामर्थ्य और परिस्थिति पर निर्भर है। पर पूर्णतया सजीव साहित्यिक हम उसी को मानेंगे, जिसकी आत्मा किसी बन्धन में नहीं है, जिसकी कलम को कोई सरकार या संस्था कदापि नहीं खरीद सकती, अपनी अंतरात्मा का आदेश ही जिसके लिये सर्वोपरि है और जो तमाम खतरों में पड़कर भी तदनुसार कार्य करता है। हमें श्रम-विभाजन की नीति से और पात्र-भेद का खयाल करते हुए काम करना चाहिए। वास्तव में हिन्दी लेखकों, कवियों और कलाकारों की जिम्मेवारी इस भारत-भूमि में सबसे अधिक भारी है।

आयरलैण्ड के उस अमर कलाकार और कर्मयोगी ए० ई० के शब्दों को एक बार हम फिर उद्धृत करते हैं—"अर्थशास्त्री हमें दैनिक रोटी दे सकते हैं; पर भावी दिनों के लिए जिस भोजन की जरूरत प्रभु ईसा ने बतलाई थी, उसका प्रबन्ध तो कोई दूसरे ही करेंगे। वह कार्य है कवियों का, कलाकारों का, गायकों और उन वीरतापूर्ण तथा उदारचरित महान व्यक्तियों का, जीनका जीवन नमूने के तौर पर जनता के सामने पेश किया जा सके। वे लोग ही उन आदर्शों को जन्म दे सकते हैं, जिनसे हमारा समाज प्रभावित तथा शासित होगा। कलाकारों का कर्तव्य है कि वे वांछनीय जीवन की कल्पित मूर्ति हमारे सामने उपस्थित करें, आदर्श मानव-जगत् की झलक हमको दिखलाएँ और राष्ट्र की आत्मा का चित्र हमारे सामने खींचकर रख दें। आयरलैण्ड की विफलता की जिम्मेवारी है हमारे उन कवियों पर, जो अपनी दैवी श्रेणी से बिलकुल बिछुड़ गए और जो अपनी-अपनी ढपली पर अलग-अलग अपना-अपना राग छेड़ते रहे, और साथ ही उस विफलता की जिम्मेवारी उन लेखकों पर भी है, जिन्होंने मानव स्वभाव के महत्त्व पर ध्यान देने के बजाय उसकी क्षुद्रताओं का ही वर्णन करना उचित समझा।"

क्या उपर्युक्त पंक्तियों में हमारे लिये कोई संदेश नहीं है ? हिंदी-भाषा-भाषी ग्रामों की संख्या चार लाख से कम न होगी। अब वक्त आ गया है कि हिंदी लेखक और कवि, गायक और कलाकार आपस में मिलकर इस प्रश्न पर विचार करें कि चार लाख हिंदी-भाषा-भाषी ग्रामों में, जहाँ जीवन-सरिता की तह (बक़ौल कवीन्द्र) झाड़-झंखाड़ों और कूड़ा-करकटों से भर गई है, किस प्रकार आनन्द और उल्लास की लहर लाई जा सकती है। ओह ! कितना महान कार्य और कितना उच्च लक्ष्य है हमारे सामने !

पंडित उदयशंकर भट्ट

काव्य में व्यक्तित्व की अभिव्यंजना

'साहित्य' मनुष्य के ऊँचे स्तर के मानसिक संघर्ष का सारमय परिणाम है। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, गीति सभी कुछ उस साहित्य-देवता के अंग हैं जिसके प्राणों ने मनुष्यों की 'जीनियस' से प्रादुर्भूत होकर उसे ही जीवन दान किया है, उसे ही देखा है और उसे ही मूलरूप से पाने के लिये अपने को रूपान्तरों में प्रतिफलित किया है। क्योंकि जैसे साहित्य मनुष्य के विकास का प्रतिबिम्ब है वैसे ही उसका उपयोग भी है। यह जो कुछ है दृश्य या अदृश्य, चल या अचल, बौद्धिक एवं भावात्मक रूप से मनुष्य के लिये ही है। उसे बौद्धिक एवं भावना-प्रवण बनाकर अपने लिये ही रखा है। इसी से साहित्य मानव की प्राण-स्रोतस्विनी के सामयिक प्रभाव को लेकर उन्मुख एवं अधोमुख होकर बहा है। उसने वही देखा जो उसके प्राण-संवाहक ने संसार के बाह्य और आन्तरिक आवर्तन-प्रत्यावर्तन में अपने लिये पाया। उस आवर्तन-प्रत्यावर्तन की मूल धारणाएँ भले ही वातावरण, परिस्थिति, देश अथवा काल से बेमेल रही हों, उनकी चिन्न-धाराओं में भले ही दृष्टि भेद रहा हो, किन्तु मनुष्य के शरीर में बहने वाले रस की तरह प्राणों को देनेवाली शक्ति तो एक-सी ही रही है। इस प्रकार के रस की एकता को हम साहित्य का युग कह सकते हैं। और इस तरह भी कि एक ही दिशा की ओर उन्मुख होने वाले नदी का प्रवाह एक ही ओर को जाता है, जब तक कि किसी नये भगीरथ के प्रयत्न द्वारा साहित्य की नदी की मुहाना दूसरी ओर को न फेर दिया जाय।

हम जो कुछ भी देखते हैं उसमें अधिकतर बाहर का होता है। वही हमारे भीतर जाकर पकता है और नये रूप में वास्तविक या काल्पनिक, आदर्श या यथार्थवादी बनकर जीवन के सार की तरह बाहर निकलता

है, तथा नवीन की सृष्टि करता है। शुद्ध वह कुछ भी नहीं है, सत्य भी वह नहीं हो सकता, किन्तु अशुद्ध भी वह नहीं है, असत्य भी वह नहीं होता। उसमें प्राणों का नवरस प्रवाहित होता है, इसलिये अनुभूतियों के पककर निकला हुआ वह रस-साहित्य हमें पुष्टि प्रदान करता है।

साहित्य में सबसे ऊँचा स्थान कवि का है। वह जीवन का द्रष्टा है, उसके भूत, वर्तमान और भविष्य का भी। जीवन के एकात्म्य-समूह को युग कह सकते हैं। युग में वाणी-भेद होते हुए भी रस-भेद नहीं होता, दृष्टि-भेद होते हुए भी वस्तु-ग्रहण का भेद नहीं होता। जैसे सामने विस्तृत पथ पर चलने वाला जन समूह बाजार में भले ही भिन्न-भिन्न वस्तुओं पर अपनी निगाह अड़ाता चले, पर मार्ग तो वैसे ही चलना पड़ेगा, और उस समय तक जब तक कि कोई नया इञ्जीनियर आकर उस पथ को सर्वथा बदल न डाले। इसीलिये हम देखते हैं संसार में तोड़-फोड़कर नया मार्ग बनाने वाले कम हो पाते हैं और उन सड़कों पर चलनेवाले ऊँचे, नीचे, प्रशस्त, साधारण अधिक।

इसीलिये कवियों के भी बहुत भेद हैं, और उनके काव्यों को युग के साथ बाँधा गया है। काव्य कवि की प्रतिभा, दृष्टि-तीक्ष्णता, तादात्म्य का रसमय कार्य है, जो समय की सीमाओं को फोड़कर अपना मार्ग बनाता हुआ युग-युगान्त और कल्पान्त तक मानव मानव को अपने रस से विभोर करता रहता है। वह जितना ही जीवनमय, रसमय होता है उतना ही अधिक कालव्यापी होकर अपना प्रकाश फैलाता है। दूसरी तरह यों कहना होगा कि जिस कवि ने अपने उस काव्य में जितना अधिक हृदय, हृदय का जितना रस, रस से उत्पन्न होने वाला जितना अधिक प्राण दिया होगा वह काव्य उतना ही दीर्घव्यापी होगा। कवि वहाँ और अधिक कुछ न रहकर संवाहन का काम करता है। इस संसार में जैसे ही अनन्त ज्ञान है वैसे ही अनन्त रस भी है। जैसे अनन्त सुख है वैसे ही अनन्त दुःख भी है। इस विश्व की महत्ता हमारी दृष्टि से परे है और इसकी सूक्ष्मता भी हमारी शक्ति से बाहर है। जो कुछ मेरा है,

उसे हम सभी देखते हैं, जैसे जन-साधारण अपनी स्थूलता से ही जगत् की स्थूलता को नापकर अपना काम चलाता है।

कवि की दृष्टि के लिये वह सब कुछ दूसरा हो जाता है। स्थूल उसका जीवन-निर्वाह होता है। वास्तविक महत्ता और वास्तविक सूक्ष्मता बाह्य और आभ्यन्तरिक, लौकिक और आत्मीय, वही उसके लिये होती हैं, जिसमें वह अपनापन भूलकर, तादात्म्य होकर एकाएक बोलने लगता है। ऐसे कवि जब युगमय होकर बोलते हैं, तब वे आत्मा को भूल जाते हैं, किंतु जब प्रकृति और जीवन से प्राप्त रस को अपना उद्गार मानने लगते हैं तब उनका व्यक्तित्व, अहम् कहता है। अर्थात् वे अपने सूक्ष्म दर्शक को तटस्थ रखकर विश्व को देखते हैं।

साहित्य में परम्पराएँ दोनों प्रकार की मिलती हैं। आत्म-प्रधान यानी व्यक्तित्व-प्रधान परम्परा और दूसरी सृष्टि-प्रधान।

वैदिक-साहित्य में ऋषियों ने विश्व को जैसा देखा वैसा कह डाला। उन्होंने जब-जब आत्म-विभोर होकर देखा तब वे अपने को भूल गए, और जब आत्म-शक्ति के साक्षात्कार के बाद उन्होंने जगत् को जानने की इच्छा की तभी उनका व्यक्तित्व बोल उठा। एक मंत्र आता है—

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्'।

इस मन्त्र में उस ऋषि कवि की आत्मा इतनी प्रकाशमान है कि वह संपूर्ण विश्व को जानने की क्षमता प्राप्त कर चुका है। वह कहता है—
"मैं अँधेरे से परे, सूर्य की तरह प्रकाशमान महान् पुरुष को जानता हूँ।"

अब देखना यह है कि अँधेरे से परे सूर्य की तरह प्रकाशवाले उस महान् पदार्थ को जानने की क्षमता उसमें कैसे आई। कैसे यह सब उसने जान लिया?

हम मानते हैं कि 'अ' में जितना ज्ञान है, जितनी दूर देखने की शक्ति है, 'ब' में उससे अधिक है। 'स' उन दोनों को पीछे फेंक आया है। वह पहले एक फर्लांग तक देखने वाले और 'ब', जो दो फर्लांग तक देख सकता है, उन दोनों से ज्ञान के साथ-साथ देखने की क्षमता भी

अधिक रखता है। इसी तरह यदि कुछ विकास को लें तो मानना होगा कि मनुष्य की शक्ति भी अपरिमित होती चली जाती है। शक्ति का नाम ही आत्मा है। जिस मनुष्य को जितना ही अधिक शक्ति-विकास प्राप्त होगा वह उतना ही अधिक दूरदर्शी भी हो सकेगा। क्रान्तदर्शी भी वह होगा, क्योंकि उसने अपनी विकसित शक्ति से प्रकृति की सूक्ष्मता, समाज की मूल धारणाओं और उनके बदलनेवाले कारणों को भी देखा है। इस प्रकार देखने वाला कवि विश्व का प्रतिनिधि होकर जब बोलता है तभी उसका व्यक्तित्व जागता है। वेदों के कवि इसी प्रकार के हैं।

वाल्मीकि, व्यास आदि कवियों के महाकाव्यों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि इन कवियों ने अपने सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा। यदि कोई आरम्भ से अन्त तक इन लोगों के सम्बन्ध में कुछ जानना चाहे तो कदाचित् एक भी अंश ऐसा न मिलेगा जिसमें इन महाकवियों का 'अहं-भाव', व्यक्तित्व जाग्रत हुआ हो, या इनके सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञान हो सके। वैसे तो सम्पूर्ण काव्य कवि की प्रकृति का प्राण होता है। उसके स्वभाव, आचरण, निष्ठा, श्रद्धा का प्रतिबिम्ब है, परन्तु न जाने क्यों, पुराने साहित्य में नाटकों को छोड़कर बहुत कम कवियों ने अपने सम्बन्ध में लिखा है। ब्रह्मा की तरह साहित्य के इन महाप्राणों का अनुकरण प्रायः होता रहा है।

यदि हम इसको दूसरे दृष्टिकोण से देखें तो मालूम होगा कि युग की प्रथा वस्तु और उसकी सीमा के ऊपर निर्धारित होती है। उसको चार भागों में बाँट सकते हैं—

(१) मूल प्राकृतिक—(यथार्थ एवं अनुभूतिवादी)

(२) सांस्कृतिक—(आदर्शवादी)

(३) रूढ़िवादी—(क्लासिकल)

(४) मूल परिवर्तनवादी—(रोमेंटिक)

(१) मूल प्राकृतिक कवि प्रकृति और जीवन के अन्तरंग से रस प्राप्त करता है। इसलिए जहाँ उसकी आत्मशक्ति प्रबल होती है वहाँ वह

तटस्थ रहकर जीवन को देखता है। और जहाँ वह सौन्दर्य से विभोर हो जाता है वहाँ अपने को भूल जाता है। वहाँ वस्तुप्रधान होने के कारण उसकी चेतना डूब जाती है। कवि ऐसी जगह न विश्व का प्रतिनिधि होता है न कुछ और। वह स्पष्टद्रष्टा होता है। सत् की तरह शुद्ध और प्रकाशमान।

(२) सांस्कृतिक कवि में आदर्श की उग्रता इतनी अधिक होती है कि उसे अपने सम्बन्ध में कहने का अवकाश ही नहीं मिलता। वह जिस आदर्श ('हीरो') को लेकर चलता है उसके गुणों में, व्यक्तित्व में, उसको ऊँचा उठाने में अपने को भूल जाता है। उसका काव्य अपना न होकर उसका दर्शन होता है, विश्व का होता है। वहाँ कवि काव्य में; चेतना की पूर्णता में कविता की पूर्णता, रस की पूर्णता, प्रतिभा की पूर्णता मानता है। यदि ऐसे कवि अपने संबंध में कुछ कहते भी हैं तो बड़ी विनम्रता से, अपने को बहुत छोटा दिखा कर। मानो जिसका वे वर्णन करने जा रहे हैं वह सूर्य है और कवि खद्योत। कालिदास 'रघुवंश' में और तुलसीदास 'रामचरित-मानस' में इसी प्रकार प्रकट हुए हैं।

(३) रूढ़िवादी कवि तीसरे हैं जिन्हें क्लासिकल कहा जाता है। ये कवि भी प्रायः व्यक्तित्व की अभिव्यंजना में आदर्शवाद का अनुकरण करते हैं। जैसा कुछ काव्य के निर्माण के लक्षणों में लिखा गया होगा उसका पालन करना ऐसे कवियों को अभीष्ट होता है। न तो उसमें उलट-फेर करने की उनमें क्षमता ही होती है न वे उचित ही समझते हैं। यह दूसरी बात है कि भूमिका में वे अपने सम्बन्ध में कुछ निर्देश कर सकते हों।

(४) चौथे कवि मूल परिवर्तनवादी होते हैं। वे छंद, भाषा, भाव सब में परिवर्तन करके मूल प्राकृतिक कविता की ओर उन्मुख होते हैं। इसलिये उनकी कविता में प्रकृत के साथ आत्मचेतना मिल जाती है, और महाकाव्य की जगह मुक्तकों में, गीतों में वे अपना रस प्रकट करते हैं। असल में गीत और फुटकर रचना ही व्यक्तित्व के स्पष्टीकरण की

साधना है। इसलिए मानना होगा कि वेदों का कवि गीतवादी एवं मुक्तक का कवि है। इसमें वस्तु की तन्मयता कवि की चेतना से दबी होती है। वह देखता है अपने साथ मिलाकर, अपने को उसका द्रष्टा मानता है, इसलिये कवि का 'अहम्' विश्व का प्रतिनिधि बनकर बोलता है। ऐसा भी होता है जब कवि साधारण सी बातों में अपने को महान् मानकर विश्व का द्रष्टा समझता है, परन्तु यह तो उसके अहंभाव की अतिमात्रा है, जिसमें न वह कुछ देख ही पाता है, न उसका अपनापन ही होता है। शक्ति उसकी क्षीण होती है, परन्तु अज्ञता से 'अहम्' अधिक उग्र।

हिन्दी के रोमेण्टिक युग में फुटकर रचना और गीतों के साथ कवि ने अपनी अभिव्यक्ति भी की। ऐसा मालूम होता है समाज और राष्ट्र के दुःख और सुख के अभिव्यक्तीकरण का साधन वह केवल अपने को मानता है। इसीलिए समस्त के जीवन की विषमताएँ उसकी कविता में बोल उठती हैं। परन्तु सब जगह ऐसा ही हुआ हो यह नहीं कहा जा सकता। कुछ कवि ऐसे भी हैं जिनमें विश्व का प्रतिनिधि न होकर भी आत्माभिव्यक्ति ही अधिक हुई है। वहाँ कवि का आत्मबोध ही इतना उग्र है, वस्तु के प्रति उसकी तन्मयता ही इतनी गहरी है कि वह 'आत्म-निवेदन' के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कर सकता। वहाँ उसकी आत्म-विवशता, वस्तु के प्रति विभोरता, साक्षात्कार की जागरूकता उसकी कविता का लक्ष्य हो जाता है। दर्प, दम्भ उसमें कुछ भी नहीं होता।

हमें मानना चाहिए कि यह युग व्यक्ति का है। किसी समय समाज के द्वारा व्यक्ति की परख होती थी। समाज की सीमाओं में व्यक्ति का प्राणाबन्धन धर्म को, देश को और राष्ट्र को अभीष्ट था। परन्तु आज के युग में समाज को व्यक्ति से असित मानकर भी दोनों सर्वात्मना एक को आत्म-समर्पण नहीं कर रहे हैं। यदि समाज का रूप जाग्रत होते हुए भी वह व्यक्ति को तिरस्कार की दृष्टि से देखने की क्षमता नहीं रखता तो व्यक्ति भी समाज की परंपराओं को तोड़कर उसे नये दृष्टिकोण से देखना

सीखने लगा है। साहित्यकार का हाथ उस परम्परा के तोड़ने में सबसे आगे है। इसलिए आज का साहित्यकार और कवि यदि समाज का प्रतिनिधि है, वहाँ वह आत्माभिमत दे देना भी अपना कर्तव्य समझता है। हाँ, इतना तो अवश्य मानना पड़ेगा कि आज कवि के काव्य में व्यक्तित्व की अभिव्यंजना साधारण नहीं है। उसके मूल में कवि की व्यथा है, जो उसे जगत् से मिली है, उसके शासन की क्रूरता ने, उसके निरंकुश व्यापार ने कवि को दी है। कवि उसको तोड़ना चाहता है, उसको समूल भस्म करना चाहता है। वह देख रहा है कि उसके देखते-देखते ही उसकी अभिलाषाएँ पूर्ण होने जा रही हैं, मानो युग चुपचाप होकर कवि के इंगित पर चल रहा है, पर बाहर से वह उसका प्रतिरोध भी कर रहा है। इसलिए कवि और भी उग्र होकर अपनी तीक्ष्ण दृष्टि से देखे गये भविष्य को आत्म-विश्वास के साथ कहने जा रहा है—

आज यह तारुण्य मेरा वह्नियाँ एकत्र करके
खींच तारों की कतारें साँस में बारूद भरके
विभव के प्रासाद को कर खाक उसको भी उड़ाने
हड्डियों के ढेर में फिर एक मीठा दिया सुलाने
उन सुनहली प्यालियों में सुख सुधा सबको पिलाने
विश्वसमता में अकृतयश जो सुखी के पर जलाने
आ रहा है उफनता चिनगारियों के रथ सजाकर
आ रहा आकाश भू के पटलपर नव रवि जलाकर

पंडित रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'

हिन्दी काव्यशास्त्र

हिन्दी काव्यशास्त्र का उदय पुष्प या पुण्ड से कहा जाता है। मिश्र-बन्धुओं ने इसे हिन्दी का प्रथम कवि माना है। उसने संस्कृत के एक अलंकार ग्रन्थ का अनुवाद हिन्दी दोहों में किया था, किन्तु उसकी पुस्तक के अब उपलब्ध न होने से उसके सम्बन्ध में कुछ अधिक नहीं कहा जा सकता। उसके बाद मिश्र बन्धुओं ने करनेश, गोप आदि का उल्लेख किया है। उन्होंने भी अलंकार की पुस्तकें लिखी हैं, किंतु कदाचित् वे उपलब्ध नहीं हैं। यदि मिश्रबन्धु-विनोद माननीय है तो हिन्दी काव्यशास्त्र का उदय अनुवाद से हुआ है। वह मौलिकता के साथ नहीं उठा है।

इसके पश्चात् साहित्य के इतिहास का प्रथम काल जयकाव्य या वीरगाथा काल कहा गया है। इस समय में शास्त्रीय विवेचन का कार्य किया जा सका। क्योंकि देश और समाज की स्थितियाँ इसके अनुकूल न थीं। उसके पश्चात् भक्तिकाल में भी यह कार्य स्थगित ही सा रहा। फिर भी दोनों कालों में रचे गये काव्य से यह स्पष्ट है कि उसमें काव्य-शास्त्र के पूर्ण नियम परिपालित होते थे। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि इन कालों में काव्य-शास्त्र उपेक्षित हो गया था। भले ही उसका उपयोग या रचना-कार्य हिन्दी में न किया गया हो। बहुत सम्भव है कि संस्कृत से ही उसकी पूर्ति होती रही हो। इन दोनों कालों में रस की विशेष प्रधानता रही है। यद्यपि इसके साथ ही काव्यकला का कौशल भी अपना महत्त्व रखता था। इन दोनों कालों में काव्य-रचनाएँ कलाप्रधान और भावप्रधान होती थीं। हाँ, भावपक्ष को कुछ विशेष प्रधानता अवश्य दी गई थी, परन्तु कलापक्ष छोड़ न दिया गया था। सूरदास जी भावमय स्वाभाविक वर्णन करते हुए भी काव्य-कला-कौतुक-पूर्ण पूर्ण दृष्टिकूट भी लिखते हैं। वात्सल्य रस में कृष्ण का स्वाभाविक

वर्णन करते हुए भी वे अलंकृत काव्य की रचना करते हैं। अपनी रचनाओं में उन्होंने अलङ्कारों का समावेश बड़ी चतुरता से किया है। यह अवश्य है कि ऐसा उन्होंने भाव-पोषणार्थ ही किया है। इससे जान पड़ता है कि उस समय काव्य-शास्त्र के निर्माण का कार्य स्थगित रहते हुए भी कवि लोग उससे प्रभावित अवश्यमेव रहे थे।

इसके पश्चात् अलंकृत काव्य या काव्यकला काल आता है। इसको कुछ लोग रीतिकाल भी कहते हैं, यद्यपि इस काल में रीति-ग्रंथों के अतिरिक्त काव्य-कलापूर्ण स्वतन्त्र ग्रंथ भी लिखे गए। उदाहरणतः 'बिहारी सतसई' है। उसमें काव्यशास्त्र के उदाहरण तो हैं, पर वह काव्य-शास्त्र का रीति-ग्रंथ नहीं है। इसलिये मैं इसे अलंकृत या काव्य-कला-काल कहना अधिक उपयुक्त समझता हूँ। इसमें भावपक्ष कला-पक्ष की अपेक्षा बहुत कुछ कम ही पाया जाता है। इस काल में काव्य-शास्त्र की रचना तीव्र गति से हुई। केशवदास ने वैज्ञानिक ढङ्ग से सर्वप्रथम काव्य-शास्त्र ग्रंथ लिखा। उन्होंने अपनी 'कविप्रिया' में तो अलंकारों का और 'रसिकप्रिया' में रसों आदि का विवेचन किया। दोनों पुस्तकें अपना-अपना विशेष स्थान रखती हैं। अतएव केशव को हम काव्य-शास्त्र का प्रथम आचार्य कह सकते हैं। इनके पूर्व के लेखकों की रचनाएँ इस समय उपलब्ध नहीं, जिससे उनका स्थान निश्चित किया जाय। केशव के पश्चात् फिर लगभग ५० वर्षों तक काव्य-शास्त्र का कार्य स्थगित ही-सा रहा। इस बीच में भले ही कुछ छोटे-मोटे ग्रंथ लिखे गए हों, पर उनके उपलब्ध न होने से उनकी चर्चा ही क्या? बाद में चिन्तामणि त्रिपाठी से काव्य-शास्त्र की रचना-परम्परा अबाध रूप से चलती है। उनके साथ ही उनके भाई भूषण और मतिराम ने भी काव्य-शास्त्र लिखे। पर जिस प्रकार संस्कृत में काव्य-शास्त्र के प्रत्येक अंग पर अलग-अलग पुस्तकें लिखी गई हैं, ठीक उसी प्रकार हिन्दी में नहीं लिखी गईं। 'वक्रोक्ति-जीवित'-कार ने वक्रोक्ति पर और 'ध्वन्यालोक'-कार ने ध्वनि पर जैसी स्वतंत्र विवेचनात्मक पुस्तकें लिखीं वैसी हिन्दी में नहीं। संस्कृत

में कुछ आचार्यों ने काव्य के समस्त अंगों पर भी विवेचनात्मक सर्वांगपूर्ण ग्रंथ लिखे—जैसे 'काव्यप्रकाश,' 'साहित्य-दर्पण' आदि। इस प्रकार हिन्दी में कोई चेष्टा नहीं हुई। प्रायः केवल अलंकारों पर ही लोगों ने पुस्तकें लिखने की चेष्टा की और इस प्रकार की लगभग दो सौ से अधिक पुस्तकें हिन्दी में लिखी गईं। हिन्दी काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में मौलिक कार्य बहुत थोड़ा हुआ। अधिकतर संस्कृत ही से सब सामग्री ली गई है। और हिन्दी रीति-ग्रन्थों के प्रमुख आधारभूत या सहायक संस्कृत ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश', 'साहित्य-दर्पण' और 'चन्द्रलोक' ही रहे हैं। स्थूल रूप हम हिन्दी के काव्यशास्त्रकारों का विभाजन तीन श्रेणियों में कर सकते हैं :—

१—वे लोग जिन्होंने आचार्य के रूप में विवेचन कर काव्यशास्त्र में मौलिकता लाने की चेष्टा की है, अथवा अपने नये सिद्धान्तों के प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया है।

२—वे लोग जिन्होंने हिन्दी में काव्यशास्त्र का अभाव देखकर संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद कर उसे साधारण रूप में रखने का यत्न किया है।

३—वे लोग जिन्होंने विद्यार्थियों के लिये पाठ्य-पुस्तकों के रूप में काव्यशास्त्र के नियमों का सूक्ष्म रूप से परिचय दिया है। इस श्रेणी में जसवन्तसिंह जैसे लेखकों के 'भाषाभूषण' जैसे ग्रन्थ आते हैं। उन्होंने दोहे के एक पद में लक्षण लिखकर दूसरे उदाहरण दिए हैं।

आचार्य-श्रेणी में बहुत कम लोग आते हैं, जिनमें केशवदास और चिन्तामणि जैसे लेखक प्रमुख हैं। इन लोगों ने मौलिक सिद्धान्त रखने की अधिक चेष्टा की। केशव ने इस दिशा में सबसे अधिक श्लाघ्य कार्य किया। इनकी मौलिकता इतनी अधिक थी कि दूसरे उसे अपना न सके। दास ने भी इस प्रवृत्ति के आधार पर अच्छा काम किया। हिन्दी काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में एक विशेष प्रवृत्ति चली। यह दो तीन अलंकारों का मिश्रण कर एक नवीन अलंकार का सृजन करना था। संस्कृत में प्रायः ऐसा नहीं हुआ, क्योंकि ऐसा करने से अलंकारों की संख्या बढ़ जाती।

उन्होंने दो या दो से अधिक अलंकारों के मिश्रण को संकर और संसृष्टि के रूप में मान लिया। हिन्दी-लेखकों ने अलंकार-मिश्रण को उठाया और मुक्त-प्रकाशित, अपन्हव आदि कई अलंकार बना कर रक्खे। उनका यह प्रयत्न सराहनीय है।

हिन्दी काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में गम्भीर विवेचन का अभाव है। क्योंकि उनके कर्त्ता विद्वान् न होकर प्रायः केवल कवि ही थे। उन्हें अपना कार्य-चातुर्य दिखाना ही अभीष्ट था। 'शिवराज-भूषण' में अलंकार-विवेचन गौण है, काव्यकला के द्वारा कवि-प्रतिभा का प्रदर्शन ही उसका मुख्य उद्देश्य है। इसी प्रकार पद्माकर आदि भी पहले कवि और पण्डित पीछे थे। इनमें पांडित्यपूर्ण विवेचन की शक्ति और रुचि न थी और न उन्हें उसकी आवश्यकता ही थी। केवल काव्य-सौन्दर्य के विधानों को सूक्ष्म रूपों में लाकर रख देना ही उनके लिये पर्याप्त था।

अब प्रश्न यह उठता है कि इस विषय पर इतना लिखने की क्या आवश्यकता थी? उस समय तक यद्यपि हिन्दी का महत्त्व बहुत कुछ स्थापित हो चुका था, फिर भी संस्कृत की अपेक्षा उसकी महत्ता सत्ता कम ही मान्य थी। केशव को हिन्दी लिखने में ग्लानि मालूम होती थी—

भाषा बोल न जानहीं, जिनके कुल के दास।
भाषा कवि-भो मन्दमति, तेहि कुल केशवदास॥

जिस कुल के दास भी भाषा (हिन्दी) न बोलते हों उस कुल के होकर केशवदास हिन्दी कवि हों, यह कम ग्लानि की बात न थी। इसी प्रकार तुलसीदास भी हिन्दी में रामायण लिखते हुए कुछ लज्जित से जान पड़ते हैं।

इसका कारण यह था कि उस समय तक पण्डित-समाज में संस्कृत का ही विशेष प्राधान्य था। राजदरबारों में उन्हीं का अधिक मान-सम्मान था। वहाँ संस्कृत-काव्य-सम्बन्धी नियम चरितार्थ होते थे। प्राचीन राजाओं की भाँति उस समय के राजा साहित्य-ज्ञान में परिपक्व और प्रौढ़ न थे। जैसी किंवदन्ती है कि प्राचीन काल में राजा लोग इतने

विद्वान् होते थे कि विवाद के समय साहित्य-क्षेत्र में भी उनका निर्णय मान्य होता था। ऐसी बात राजपूत काल में न थी उस समय काव्य-ग्रन्थ राजा के कहने से या उसके पढ़ने के लिये लिखे जाते थे और उस पर सम्मति देते थे संस्कृत के प्रतिष्ठित पण्डित लोग। वे लोग संस्कृत काव्यशास्त्र के ही अनुसार उसे देखते थे। वे लोग इतने रूढ़िवादी थे कि कि रहस्यवाद और छायावाद का आश्रय लेकर अतुकान्त अथवा मुक्तक काव्य जैसा नवीन प्रवाह उनके सामने न चल सकता था। यदि काव्य में छन्द, रसादि का निर्वाह ठीक न हो तो रचना उत्कृष्ट नहीं समझी जाती थी। लोग राजदर्बार में सम्मानित होने के लिये अति उत्सुक रहते थे। अकबर के दरबार में भी हिन्दी कवियों का आदर होता था। बीरबल, रहीम जैसे उसके मुसाहब भी हिन्दी के उपासक थे। इसलिये आवश्यक था कि लोग काव्य और काव्यशास्त्र से पूर्ण परिचित हों। इसीसे लोगों ने इतनी अधिक पुस्तकें काव्य और काव्यशास्त्र की लिखीं। कहा जाता है कि केशव के पास राज सम्मानेच्छुक कवियश-प्रार्थी नवयुवक लोग काव्यकला सीखने जाते थे।

सन्त लोग काव्यशास्त्र से बहुत दूर थे। जैसे कबीर। उनकी रचनाएँ भक्ति से पूर्ण होती थीं। वे छन्द आदि की परवाह न कर केवल अपने भक्तिभावों को व्यक्त करना ही मुख्य मानते थे। उन्होंने काव्य को इसलिये अपनाया था कि वह गद्य की अपेक्षा अधिक रुचिर रोचक होकर ग्राह्य है। उन लोगों ने जो काव्य लिखा वह सब पद आदि जैसे गेय पदों में ही लिखा, जिससे उनका काव्य और भक्ति-भाव सर्वत्र व्यापक हो जाय। सम्भवतः इसीसे कृष्ण-साहित्य में संगीत प्रधान है। वस्तुतः उस समय परिस्थिति ही ऐसी थी कि लोगों को काव्यशास्त्र का काम-चलाऊ उपयोग करना पड़ा। थोड़े से लोगों ने काव्य के सम्पूर्ण अंगों की विवेचना की है, पर जिन लोगों ने काव्यशास्त्र के नियम सूक्ष्म रूप से लिखे थे, उन पर टीका होना आवश्यक था। टीकाकारों का कर्त्तव्य था कि संस्कृत की भाँति हिन्दी काव्यशास्त्र की विवेचना करते। किन्तु ऐसा न हुआ।

इसका कारण यथोचित भाषा-भाव के साथ विद्वानों का अभाव भी था।

१८०० के पश्चात् गद्यकाल आता है। राजनैतिक और आर्यसमाज आदि धार्मिक आन्दोलनों में और नवीन आवश्यकताओं के कारण गद्य का विकास हुआ और काव्य और काव्यशास्त्र का प्रभाव कुछ रुक गया। इधर दस पन्द्रह वर्षों से लोगों की दृष्टि फिर कुछ काव्यशास्त्र की ओर गई है। 'काव्यकल्पद्रुम', 'काव्यप्रभाकर' आदि ग्रंथ इसी समय में लिखे गए हैं, जिनमें 'काव्यशास्त्र की संक्षिप्त विवेचना गद्य में हुई है। आज रीति-ग्रन्थों की रचनाशैली भी इसी से बदल गई है। पहले तो शास्त्र-विवेचन भी पद्य में होता था, किन्तु आजकल अलंकारों आदि का विवेचन गद्य में होता है। कुछ वर्ष पूर्व तक, भगवानदीन जी के समय तक, यह परिपाटी न थी। 'काव्य-प्रभाकर', 'अलंकार-प्रकाश' आदि ग्रन्थ गद्य में लिखे गए। इस विषय की छोटी-छोटी पुस्तकों में विवेचन पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है।

जब से खड़ीबोली काव्य का नया विकास हुआ लोगों का ध्यान इस ओर कुछ हट गया। खड़ीबोली के नये कवियों ने काव्यशास्त्र पर ध्यान ही नहीं दिया। प्रायः गुप्त जी आदि काव्यशास्त्र के अनुकूल ही रचना करते हैं अवश्य, फिर भी उनमें शास्त्र के अनुसार अनेक भयंकर दोष हैं, जिससे प्रगट है कि वे इस ओर विशेष ध्यान नहीं दे रहे, इसे वे गौण मानते हैं। खड़ीबोली के प्रवाह में पड़कर काव्यशास्त्र की क्षति हुई। ब्रजभाषा के यत्र-तत्र कुछ लिखने वाले कुछ कवि लोग ऐसे अवश्य हैं जो प्राचीन काव्यशास्त्र के अनुकूल रचनाएँ करते हैं, पर उनकी संख्या नगण्य है। वे पत्र-पत्रिकाओं में कुछ नहीं लिखते। स्वांतःसुखाय रचना करना ही उनका मुख्य ध्येय है। वे इस ओर क्यों नहीं झुकते? कारण यह जान पड़ता है कि उनकी समझ में अब तक जितने ग्रन्थ लिखे गये हैं वे उनके लिये पर्याप्त हैं। इस कारण आजकल काव्यशास्त्र का प्रवाह रुक-सा रहा है। हम कह चुके हैं कि जिस प्रकार संस्कृत में एक-एक काव्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ एक-एक विशेष अंग या विषय पर लिखे गए

हैं उसी प्रकार हिन्दी के अलंकृत काल में नहीं लिखे गये। आधुनिक काल में भी काव्य के केवल दो अंगों—अलंकार और रस—पर ही प्रायः अधिक पुस्तकें लिखी गई हैं। अन्य काव्यांगों की ओर अभी विशेष ध्यान नहीं दिया गया। रस-विवेचन पर भी अधिक अच्छे ग्रन्थ नहीं लिखे गए हैं। रस पर लिखी गई पुस्तकों में अयोध्या नरेश का 'रसकुसुमाकर', 'हिन्दी में नवरस', 'रसकलस' जैसे कुछ ग्रन्थ और अलंकारों पर भगवानदीन जी का 'अलंकार-मंजूषा', 'अलंकार-प्रकाश' जैसे ग्रन्थ मुख्य हैं। अलंकृत काल में लिखे गये ग्रन्थों की रचना-शैलियों का विभाजन स्थूल रूप से यों किया जा सकता है—

१. दोहाशैली—इसमें लक्षण और उदाहरण दोनों एक ही दोहे में या अलग-अलग दिये गए हैं। जैसे राजा यशवन्त सिंह के 'भाषा-भूषण में।

२. दोहामिश्रित शैली—इसमें लक्षण तो दोहे में और उदाहरण कवित्तों या सवैयों में दिये गए हैं। जैसे भूषण के 'शिवराज-भूषण' और मतिराम के 'ललित ललाम' आदि।

३. कवित्त-सवैया शैली—इसमें लक्षण और उदाहरण दोनों कवित्त या और किसी एक ही छन्द में दिये गए हैं। जैसे दूलह कवि का 'कंठाभरण'।

४. छन्देतर शैली—इसमें लक्षण और उदाहरण दोनों भिन्न-भिन्न छन्दों में दिये गए हैं। जैसे पद्माकर का 'पद्माभरण' और रामसिंह का ग्रन्थ।

५. आधुनिक गद्य-शैली—इसमें दोहा-शैली का सबसे अधिक उपयोग हुआ है। पुष्प कवि ने दोहों ही में संस्कृत के एक अलंकार-ग्रन्थ का अनुवाद किया था। केशव ने परिभाषाएँ दोहों में और उदाहरण कवित्त-सवैयादि में दिए हैं। जसवन्त ने दोहे में ही लक्षण और उदाहरण दोनों दिए हैं। एक प्रकार से दोहा-शैली अलंकृत-काल में बराबर चलती रही है! इसमें परिवर्तन १८०० के बाद ही हुआ।

अब सूक्ष्मरूप में यह देखना है कि अलंकृतकाल में मौलिकता की

मात्रा कहाँ तक है। अनुवाद में विशेषता है या नहीं। कुछ ग्रन्थ तो सर्वथा संस्कृत ग्रन्थों पर ही अवलम्बित हैं। कुछ ने हिन्दी ग्रन्थों की परिभाषाओं में कुछ परिवर्तन कर अपना लिया है। वे अपने से पूर्ववर्ती हिन्दी ग्रन्थों पर ही आधारित हैं। मतिराम, जसवंतसिंह और दास के कतिपय अलंकारों की परिभाषाओं में पूर्ण सादृश्य है। भूषण और मतिराम के में तो यह बात बहुत ही अधिक है। उनके सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि उनके लिये यह स्वाभाविक था, क्योंकि वे भाई-भाई थे और एक दूसरे से ले सकते थे। इसे हम चोरी नहीं कह सकते। वरन् उनका स्वाभाविक अधिकार कह सकते हैं। दास और जसवन्तसिंह की परिभाषाएँ भी कहीं-कहीं अक्षरशः मिलती हैं। जसवन्तसिंह आदि कुछ ऐसे लेखक हैं जो 'चन्द्रलोक' पर अवलम्बित हैं। कुछ ऐसे हैं जिनका संस्कृत के लेखकों तथा हिन्दी के अन्य कवियों से परिभाषाओं में मतभेद है। ऐसे लोगों के सम्बन्ध में कुछ लोगों का कहना है कि उनकी परिभाषाएँ अशुद्ध और भ्रमात्मक हैं। भूषण आदि के सम्बन्ध में आलोचकों का यही मत है। परन्तु हम उन परिभाषाओं के सम्बन्ध में ऐसा क्यों न मानें कि वे परिभाषाएँ उन्होंने अपनी ओर से दी हैं और वे ही उनके विचार से सही हैं। वे पूर्व के आचार्यों से सहमत नहीं। संस्कृतकाल में भी आचार्यों में ऐसा मतभेद रहा है। पंडितराज जगन्नाथ ने पूर्ववर्ती अन्य काव्यशास्त्र के ग्रंथों का तीव्र रूप से खण्डन किया है और अपने स्वतन्त्र मत से स्वतंत्र परिभाषाएँ दी हैं। इसी प्रकार हिन्दी के इन लोगों ने भी अपनी स्वतंत्र परिभाषाएँ दी है, और पूर्ववर्ती लेखकों की परिभाषाएँ नहीं मानीं। हम एक ओर तो यह भी मानते हैं कि केशव आदि संस्कृत के विद्वान् थे, फिर साथ ही यह भी कहते हैं कि उनकी उपमा की परिभाषा संस्कृत के अनुसार अशुद्ध है। यह ठीक नहीं। मैं इसे इस रूप में नहीं मानता। विद्वान् होते हुए वे कभी भी ऐसा अशुद्ध न लिखते। इसलिए स्पष्ट है कि उन्होंने जानबूझकर अपनी ऐसी स्वतंत्र परिभाषाएँ दीं। कितनी तो ऐसी

परिभाषाएँ हैं जो अपने पूर्ववर्ती लेखकों की परिभाषाओं से बिलकुल ही पृथक् हैं।

देव ने सबसे अलग चलकर केवल ३९ अलंकार ही माने हैं। उनमें से भी कितने ही अलंकारों की परिभाषाएँ सर्वथा स्वतंत्र हैं। इस संबंध में कहा जा सकता है कि १५ वर्ष की अवस्था ('चढ़त सोरही वर्ष') का बालक 'भावविलास' जैसा ग्रन्थ कदाचित् ही लिख सके। सम्भव है कि किसी गुरु के यहाँ पढ़ते रहे हों और गुरु के लिखाये हुए नोट्स को लिखा हो। यदि हम 'देव' को महाकवि के रूप में देखें तब तो अवश्य उनकी प्रतिभा विलक्षण थी। हो सकता है कि उनके विचार में ३९ अलंकार ही प्रधान हों, बाकी को वे उन्हें उपभेद मानते रहे हों। यही विचार यदि सामने रक्खा जाय तो भी अनुचित न होगा। फिर भी मैं उसी बात को दुहराता हूँ। १६ वर्ष की अवस्था में निपुण होकर काव्यशास्त्र नहीं लिखा जा सकता और न अभी तक किसी ने लिखा ही है। अब प्रश्न है कि इन दो विचारों में किसे मान्य कहा जाय।

क्या हम कहें कि इन लेखकों की ऐसी परिभाषाएँ सदोष और संदिग्ध हैं या हम यह कह सकते हैं कि ये उनकी निजी परिभाषाएँ हैं? ऐसी स्वतंत्र परिभाषाओं को दूसरों ने नहीं अपनाया। साधारणतया लोग 'चन्द्रलोक' आदि का अनुवाद ही करते रहे हैं।

तीसरी बात यह है कि प्रिन्टिंग प्रेस के न होने से इन आचार्यों के इन स्वतंत्र विचारों का विशेष प्रसार ही न हो सका। केशव के 'कविप्रिया' या 'रसिकप्रिया' को पचीस-पचास व्यक्तियों ने लिख लिया। अब अनुकरण हो तो कैसे।

पुस्तकों के अभाव से पूर्ववर्ती लेखकों को देखकर किसी विषय का पूर्ण प्रतिपादन करना असम्भव अथवा कष्टसाध्य ही था। यह दोष पाया जाता है, फिर भी जो कुछ कार्य हुआ है वह सर्वथा स्तुत्य है। कुछ लोगों ने मौलिक विशेषताओं के लाने का प्रयत्न किया, इससे यह नहीं कह सकते कि हिन्दी-काव्यशास्त्र का क्रमिक विकास नहीं हुआ।

मौलिकता लानेवालों में केशवदास, देव आदि प्रमुख हैं। मैं प्रमुख स्थान केशव और दास लेखकों को देता हूँ। 'काव्यप्रकाश' से सहायता लेने पर भी दास ने अपने स्वतंत्र विचार रखने का अच्छा प्रयत्न किया है। इस बात को उन्होंने लिखा भी है। उसमें उनकी मौलिकता मिलती है। अतएव कहना चाहिये कि कला-काल में काव्यशास्त्र का क्रमिक विकास हुआ और उसके प्रवर्धन का भी अच्छा प्रयत्न किया गया। फिर अभी इसका बहुत-सा कार्य करने को शेष है। हिन्दी के विद्वानों को इस ओर अब ध्यान देना चाहिए।

पंडित गणेश द्विवेदी

हिंदी नाटक का विकास

आधुनिक हिंदी गद्य के विकास में बहुत थोड़े प्रतिभावान साहित्यिकों का ध्यान मौलिक नाटक-रचना की ओर गया है। कथा-साहित्य, विशेषतया गल्प या छोटी कहानी की ही उन्नति किसी प्रकार संतोषप्रद कही जा सकती है। इसकी तुलना में मौलिक उपन्यास का विकास भी बहुत दुर्बल है। और सबके क्षीण-कलेवर नाटक है।

मोटे तौर से सन् १८०० ई० से आधुनिक हिंदी गद्य का युग आरंभ होता है। इससे पहले हिंदी में नाटक नहीं थे। यों तो कहने को महाकवि देव का रचा हुआ एक नाटक ('देव-माया-प्रपञ्च') बताया जाता है। पर वास्तव में हिंदी नाटक का आरम्भ भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से मानना चाहिये। सबसे पहले इन्होंने ही अपनी पूरी शक्ति नाटक-रचना में लगाई। इनके पिता का लिखा हुआ 'नहुष' नाटक हिंदी का पहला नाटक कहा जाता है। पर भारतेन्दु जी ने अपने जीवन का विशेष भाग नाटक की सेवा में ही लगा दिया।

हिंदी के अधिकांश कथा-साहित्यिकों की भाँति भारतेन्दु जी भी आरम्भ में बँगला साहित्य से ही प्रेरणा लेकर इस ओर झुके। किशोरावस्था में ही इन्हें बंगाल घूमने का अवसर प्राप्त हुआ था। वहाँ के साहित्य की सर्वाङ्गीण उन्नति देखकर ये अत्यंत प्रभावित हुए बिना न रह सके। पहले उन्होंने कुछ बँगला और संस्कृत नाटकों का हिन्दी में अनुवाद किया। सबसे पहले इन्होंने 'विद्यासुन्दर' नामक एक बँगला नाटक का अनुवाद किया। फिर संस्कृत के 'चण्ड कौशिक' नाटक का अनुवाद 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाम से किया। कुछ लोग 'सत्य-हरिश्चन्द्र' को मौलिक कृति मानते हैं, पर ऐसा वही लोग मान सकते हैं जिन्हें 'चण्ड कौशिक' का पता नहीं है। कुछ साधारण रद्दोबदल इन्होंने अवश्य की है, पर वह

ऐसी नहीं कि 'सत्य-हरिश्चन्द्र' मौलिक कहा जा सके। जो हो, इस नाटक की एक अर्से तक हिंदी में अच्छी धूम रही। व्यापारी और शौकीन, सभी प्रकार की नाटक मंडलियाँ इसे बहुत दिन तक खेलती रहीं। अब भी कहीं कहीं इसका अभिनय हो ही जाता है।

'चण्ड कौशिक' के सिवा इन्होंने संस्कृत की 'कर्पूरमञ्जरी' और 'रत्नावली' नाम की नाटिकाओं का भी सफल अनुवाद किया।

फिर इन्होंने शेक्सपीयर के कुछ अंग्रेजी नाटकों के भी अनुवाद किए, जिनमें 'मर्चेंट आफ वेनिस', का अनुवाद 'दुर्लभबन्धु' बहुत प्रसिद्ध हुआ।

भारतेन्दु जी के मौलिक नाटकों में सबसे प्रसिद्ध हैं—'चन्द्रावली', 'नीलदेवी' तथा 'भारतदुर्दशा'। 'चन्द्रावली' की प्रसिद्धि सुन्दर कविता तथा गेय पदों के कारण हुई। पर कला की दृष्टि से हम 'नीलदेवी' को पहला स्थान देंगे। 'भारतदुर्दशा' नामक इनके छोटे से प्रहसन या 'सेटायर' में हम हरिश्चन्द्र के गद्य का सबसे अच्छा नमूना देखते हैं। साथ ही राष्ट्रीय भावना की पहली छटा साहित्य में यहीं से शुरू होती है। आधुनिक काल में भारतेन्दु जी पहले साहित्यिक थे जिनकी वाणी में असाधारण देश और जाति-प्रेम की झंकार मुखरित हुई। हिन्दुओं की वर्तमान हीनावस्था हरिश्चन्द्र को बहुत खली और उन्होंने मृतप्राय हिन्दू जनता को सचेत करने की प्रथम चेष्टा की और इस प्रयास का पूर्ण आभास हमें 'भारतदुर्दशा' में मिलता है।

इनका भाषा-प्रेम भी असाधारण था। उस समय उर्दू के सामने हिंदी को कोई पूछता न था। भारतेन्दु जी इस स्थिति को बदलने में भी सचेष्ट हुए और उन्हें अच्छी सफलता मिली। अपनी भाषा, अपने साहित्य तथा अपने अतीत गौरव और संस्कृति की ओर मुमूर्ष हिन्दू जनता का ध्यान आकृष्ट करने का श्रेय भारतेन्दु को ही है।

पर खेद है कि भारतेन्दु जी के दिखाये हुए मार्ग पर चलनेवाला कोई नहीं मिला। वह एक आकाश-कुसुम की भाँति हिन्दी साहित्य-जगत में

आए और लोग उन्हें जी भर देख भी न पाए कि वह अंतर्ध्यान हो गए। उनका आविर्भाव और तिरोभाव दोनों ही आशातीत रूप से हुआ।

उनके जीवनकाल में अवश्य कई नाटक मंडलियाँ काशी, प्रयाग आदि में बनीं, बिगड़ीं, और उनके समसामयिक कई साहित्यिकों ने इस (नाटक) दिशा में साहित्य-सृष्टि करने का 'शौक' किया। पर यह शौक ही तक रहा। पर इन लोगों के बाद न जाने क्यों इस प्रवृत्ति पर 'यव-निकापात' सा हो गया।

भारतेन्दु काल में जिन अन्य लोगों ने नाटक रचना में ध्यान दिया था उनमें राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', बाबू राधाकृष्ण दास, तथा बाबू श्री-निवासदास के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'पूर्ण' जी ब्रजभाषा के रससिद्ध कवि थे। उन्होंने 'चन्द्रकला भानुकुमार' नामक का एक बहुत बड़ा नाटक लिखा। यह महानाटक बड़े-बड़े सात अंकों में समाप्त हुआ। यह जिस रूप में है उसमें तो रंगमंच पर इसका खेला जाना असम्भव है, और यदि कोई उसे 'स्टेज करने' का दुस्साहस कर ही बैठे तो शायद सारी रात खतम हो जाय और दर्शकों में से शायद ही कोई प्रथम अङ्क के बाद तक बैठने का धैर्य धारण कर सके। इसके सिवाय नाटक में जङ्गलों में पहाड़ों के दर्रों में से शेरों का निकलकर नाटक के एक पात्र पर आक्रमण करना और फिर एक दूसरे पात्र द्वारा उस शेर का मारा जाना इत्यादि कुछ ऐसी बातें हैं जिनको आज-कल की प्रसिद्ध नाटक कम्पनियाँ सब प्रकार के आधुनिक वैज्ञानिक उपकरणों के रहते हुए भी रंगमञ्च पर नहीं दिखला सकतीं। फिर इस नाटक में कविता और गीत का योग इतना अधिक है कि यह एक प्रकार से एक बड़ा 'गीति-रूपक' ('आपेरा') भी कहा जा सकता है।

उस समय के अधिकतर प्रायः सभी नाटककार कुछ इसी ढङ्ग की असावधानी कर जाया करते थे। पूर्ण जी का हमने नमूने के ढङ्ग पर यहाँ उल्लेख कर दिया। बाबू राधाकृष्णदास भी, जिनके 'महाराणा प्रताप' की कुछ दिन तक अच्छी 'शोहरत' थी, इन दोषों से मुक्त नहीं थे। वह

नाटक उतना बड़ा तो नहीं है, पर और सब त्रुटियाँ ज्यों की त्यों इसमें भी हैं, तथापि उस समय के रंगमंच ने 'महाराणा प्रताप' का बड़े जोरों से स्वागत किया।

इसी समय के आस-पास बाबू श्रीनिवासदास ने 'रणधीर प्रेम-मोहिनी', 'संयोगिता-स्वयंवर' और 'तप्तासंवरण' नाम के तीन नाटक लिखे ये नाटक, विशेषतः 'रणधीर प्रेममोहिनी', कला की दृष्टि से अवश्य उस समय के अन्य नाटकों से उच्चतर निकले। इसके कई कारण हैं, पर मुख्य यह है कि सबसे पहले यही महाशय संस्कृत नाटकों की परम्परा-गत शैली के बन्धनों से छूटकर स्वतन्त्र हो गए। 'पूर्ण' जी के 'स्कूल' के नाटककार संस्कृत नाट्यशास्त्र ('ड्रैमेटर्जी') के नियमों का अक्षरशः पालन करने की चेष्टा करते थे। इससे होता यह था कि संस्कृत नाटकों के प्रधान गुण तथा उनकी वास्तविक सुन्दरता को, जिनके कारण कुछ नाटकों को संसार के साहित्य में उच्चतम स्थान दिया जा चुका है, ये हिन्दी के नाटककार नहीं पाते थे, हाँ, उसके (संस्कृत नाटककारों के) दोष इनकी कृतियों में अवश्य अपनी पूर्ण कला से सुशोभित पाये जाते हैं। संस्कृत नाटककारों का मुख्य उद्देश्य होता था, रसिकों को रस का आस्वादन कराना। वे आदर्शवादी होते थे। दुःखान्त वर्णन उनके सिद्धान्तों के विरुद्ध था। रस की उत्पत्ति ही उनका ध्येय था। संस्कृत के सबसे प्रसिद्ध नाटककार कालिदास और भवभूति जाति के ब्राह्मण थे और जीवन-विषयक अपने सिद्धान्तों ('ब्रैह्मनिकल थिओरी आफ लाइफ') का रचना के समय अक्षरशः पालन करते थे। प्रायः सभी नाटककार अधिकतर 'शृङ्गार' रस ही को अपनाते थे और किसी प्रख्यात वंश के राजा को नायक बनाते थे। इसका मुख्य कारण यह था कि ये नाटककार अधिकतर उस समय के किसी न किसी महाराजा के आश्रित होते थे और उन्हीं को सन्तुष्ट करने के लिए नाटक लिखते थे और इसमें दिखाई हुई घटनाएँ विशेषतः ऐसी होती थीं जो रूपान्तर से उनके आश्रयदाताओं से सम्बन्ध रखती थीं तथा उन्हीं पर घटती थीं। नाटक का जो उद्देश्य

आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् निर्धारित करते हैं, ऐसी स्थिति में, संस्कृत नाटककारों द्वारा उसकी कल्पना भी असम्भव थी। सब विषयों में स्वाभाविकता आजकल के काव्यों में एक बड़ी भारी बात मानी जाती है। समालोचक या दर्शक किसी नाटक के सामने आते ही सबसे पहले यही देखता है कि स्वाभाविकता का पालन अमुक नाटककार ने कहाँ तक किया है। हर बात में, जैसे कथोपकथन, वस्तुविन्यास, देशकाल, चरित्र-चित्रण, भाषा, वेश-विन्यास, सीन-सीनरी और अन्त में उद्देश्य आदि नाटक सम्बन्धी जितनी मुख्य बातें हैं सभी में समालोचक की दृष्टि सबसे पहले स्वाभाविकता पर जाती है। "अमुक अवस्था अथवा अमुक परिस्थिति में अमुक पात्र के लिए ऐसा करना या कहना स्वाभाविक होगा कि नहीं ?" बस यही प्रश्न सबसे पहले दर्शकों और समालोचकों के मन में अपने आप ही उठता है, बल्कि यह कहिए कि उसी कसौटी से नाटकों के खरे या खोटेपन की जाँच होती है। पर संस्कृत नाटककारों के समय यह बात नहीं थी। उस समय कसौटी यही थी कि किसी रचना से रस का उद्रेक होता है कि नहीं। इसीलिए जहाँ किसी मधुर छन्द में किसी नायिका के सुकुमार अंगों की छवि उतारी गई और जहाँ उसके मुख से शृङ्गार विषयक कोई पद्य कहलाया गया तहाँ रस का उद्रेक हुआ। यही काफी था उस समय के लिए, पर अब वह समय नहीं रहा और ऐसे समय यदि कोई भाषा का नाट्यकार उन नाटकों के ढंग पर लिखने की चेष्टा करे तो फिर उसे आजकल के जमाने में भी कभी सफलता की आशा न करनी चाहिए। पर ऐसी भूल हिन्दी के अधिकांश पहले के नाट्यकार कर गए हैं, और अब भी कोई कोई ऐसी भूल कर बैठते हैं। अब आदर्शवादी लेखकों के लिये दुनिया में ठिकाना नहीं रहा। और यह शायद इसलिये कि इस समय संसार आदर्श को भूलकर मनोमुख—स्वेच्छाचारी हो गया है। क्या उपन्यास, क्या नाटक दोनों ही में अच्छे वही समझे जाते हैं जिनमें यथार्थवादिता आद्योपान्त हो। दुनिया इस समय बहुत यथार्थप्रिय हो रही है। वह साहित्य में भी ऐसे ही पात्रों को

साक्षात्कार करने के लिए तैयार है, जिससे वह पूर्णरूप से सहानुभूति करने के लिए प्रस्तुत हो, और जिनकी हरकतें ऐसी हों जैसी आजकल के अधिकतर नर-नारियों की होती हैं। राम और सीता को हम हिन्दू के नाते पूज्य दृष्टि से अवश्य देखते हैं, पर उनके अलौकिक अथवा देवोपम व्यवहार से हमको क्रियात्मक सहानुभूति नहीं होगी। वह जो कुछ करते हैं ठीक ही करते हैं, उनसे भूल हो ही नहीं सकती, किसी प्रकार की दुर्बलता उनमें नहीं है; वह साधारण मनुष्यों की भाँति हर्ष, विषाद, काम, क्रोध आदि के शिकार भी नहीं बनते, वह सब कुछ कर सकते हैं, वह ईश्वर हैं; पर इस समय नाटक के पात्र की हैसियत से हमें उनके ऐसे पात्रों से कोई सहानुभूति नहीं उत्पन्न होती। क्योंकि हम जब अपने को उनकी जैसी परिस्थितियों में पहुँचाना चाहते हैं तो अपने व्यवहारों से एकदम भिन्न देखते हैं। इस समय नाटकों में ऐसे पात्रों की जरूरत है जिनके व्यवहार ठीक हमारे जैसे जनसाधारण के-से हों, पर परिस्थितियों के अनुसार हमें पढ़ते या देखते समय ऐसा न मालूम होना चाहिये कि ये पात्र किसी दूसरी ही दुनिया के जीव हैं। दूसरी त्रुटि जो संस्कृत नाटकों के ढंग पर लिखे हुए नाटकों में पाई जाती है वह यह है कि उनमें नाट्य ('एक्शन') का विकास बहुत शिथिल होता है। प्लाट में बहुत सी बातें ऐसी भर दी जाती हैं जो वस्तुविन्यास में कुछ भी सहायता नहीं पहुँचातीं। इनसे नाटक की गति बहुत मन्द हो जाती है और आधुनिक दर्शक का जी ऊब जाता है। आजकल के पाश्चात्य नाटकों और छाया-नाटकों ('फिल्म्स') में उत्तम वही समझे जाते हैं जिनकी गति बहुत वेगपूर्ण हो। एक बात और है, जिसका आधुनिक नाट्यकार बड़ा ध्यान रखता है। वह यह है कि अन्तिम दृश्य तक दर्शक या पाठक के मन को उत्कण्ठा में रक्खा जाय और किसी भी प्रकार से उसे पहले ही अन्तिम फल की सूचना या आभास न मिलने पावे। इसका कारण यह है कि फल कि सूचना पहले ही मिल जाने पर आधी रोचकता या उत्सुकता उसी समय लुप्त हो जाती है। संस्कृत शास्त्र के नियमानुसार नाटक में पाँच अर्थ-प्रकृतियाँ ('स्टेजेज आफ

डेवेलापमेन्ट) होती हैं; उनमें पहली का नाम 'बीज' ('जर्म') होता है। इसके उद्देश्य अर्थात् फलागम की सूचना अन्योक्ति रूप से आरम्भ ही में दे दी जाती है। इसके उपरान्त इतना सभी को मालूम रहता है कि अन्त में नाटक सुखान्त ('कामेडी') ही होगा। बीच में चाहे नायक-नायिका सब प्रकार का वियोग सह लें। हिन्दी में भी संस्कृत नाट्य-शास्त्र के अनुसार लिखनेवाले ऐसा ही करने के लिये अपने को बाध्य समझते हैं। इससे होता यह है कि दिलचस्पी एकदम जाती रहती है, कोई कोई संस्कृत के नाटककार फल की सूचना प्रकारान्तर से दे देने पर भी उत्सुकता बड़ी चतुरता से बनाये रखते हैं, पर उनके अनुकरण में हिंदी वाले ऐसा नहीं कर सकते। अस्तु।

हिन्दी नाटककारों की त्रुटियों की विशद विवेचना करने का यहाँ स्थान नहीं है, हमारा प्रसङ्ग यह था कि पहले-पहल बाबू श्रीनिवासदास ही संस्कृत नाट्यशास्त्र के चंगुल से बाहर होते हुए दिखाई दिए और उन्होंने ही अपने नाटक 'रणधीर प्रेममोहिनी' को सोलहों आना ट्रेजेडी (दुःखान्त) बनाया। इनकी 'शैली' से पता चलता है कि इन्होंने पाश्चात्य नाटकों का अध्ययन किया है; पर इनमें भी और बहुत से दोष आ गए हैं। इनका नाटक आधे के करीब पढ़ते ही ऐसा मालूम होने लगता है, मानो लेखक इसे खामखाह ट्रेजेडी बनाने के लिए उत्सुक है। वस्तु-विन्यास रोचक नहीं है। चरित्र-चित्रण की ओर अवश्य ध्यान दिया है। पर कथोपकथन कहीं कहीं पर नितान्त अस्वाभाविक हो गया है। उनके पात्र अपनी-अपनी जातीयता और सामाजिक स्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की 'बोलियाँ' ('डायलेक्ट्स') बोलते हैं। यद्यपि कुछ अंशों तक यह प्रथा नाटक की स्वाभाविकता में वृद्धि करती है; पर इसकी 'अति' हो गई है। इस नाटक में एक पात्र मारवाड़ी बनिया है, उसकी भाषा हम लोग प्रायः नहीं समझ पाते। मुन्शी सुखवासू लाल उर्दू क्या बिलकुल फारसी बोलते हैं और इधर चौबे जी ठेठ ब्रजभाषा में वार्तालाप करते हैं। इन सब बातों के होते हुए भी लाला श्रीनिवासदास का कार्य

हिन्दी के नाटक-संसार में इसलिए बड़ा महत्वपूर्ण है कि इन्होंने पहले-पहल 'ट्रेजेडी' लिखने का रास्ता साफ किया और संस्कृत नाटक-शास्त्र के बन्धन से मुक्त होकर यथार्थ नाटक ('रियलिस्टिक ड्रामा') लिखने की नींव डाली।

इसके बाद नाटकों में अनुवादकों की भरमार शुरू हुई। लोगों में अभी मौलिक नाटक लिखने की प्रतिभा नहीं दिखाई देती थी; पर पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों के प्रताप से 'तमाशा' देखने के शौकीनों की संख्या बड़े जोरों से बढ़ती जा रही थी। इन नाटक कम्पनियों ने यद्यपि प्रायः सब खेल उर्दू में ही लिखवाए पर इन्होंने इतना अवश्य किया कि सर्वसाधारण में नाटक का चस्का पैदा कर दिया। हिन्दी लिखे हुए खेलों को ये कंपनियाँ इसलिए नहीं अपनाती थीं कि एक तो सर्वसाधारण की रुचि उर्दू की ओर अधिक देख पड़ती थी, संस्कृत मिश्रित हिन्दी से उर्दू को लोग ज्यादा अच्छी तरह समझते थे और इन कम्पनियों के मालिक और अभिनेताओं में मुसलमानों की संख्या अधिक थी और अब तक है। मुसलमान तथा पारसी दोनों ही को इसलिए उर्दू नाटक अधिक वांछनीय होते हैं कि एक तो उर्दू या फारसी को अपनी निज की भाषा समझते हैं और संस्कृत मिश्रित भाषा का उच्चारण ठीक तरह हो नहीं सकता। इन्हीं कारणों से कुछ दिनों तक 'खूबसूरत बला', 'शीरीं फरहाद', 'खूने नाहक' फड़कते हुए नाटकों का खूब बोलबाला रहा और अब भी इस कोटि के नाटकों का अन्त नहीं हुआ है। 'अलफ्रेड' आदि प्रसिद्ध पारसी कंपनियाँ आज भी बड़ी धूम-धाम से चल रही हैं और उसी प्रकार के नाटक खेल रही हैं। इनके नाटकों का साहित्यिक मूल्य बहुत कम होता है, नायक-नायिकाओं के प्रेमालापों में अश्लीलता और भद्दे मज़ाकों की भरमार रहती है। पात्रों के मुँह से कभी कभी ऐसे अशिष्ट और अश्लील शब्द या मुहाविरे कहलाए जाते हैं जिसे कोई भी सभ्य भद्र समाज में कहना लज्जा या अपमानजनक समझेगा। यह पारसी कम्पनियों के बारे में खास शिकायत है। दूसरी खटकनेवाली बात इनके यहाँ नाच और गाने

की भरमार है। कला की दृष्टि से गाने को दूर रखना ही विद्वानों ने उचित समझा है; पर यहाँ तो यह हाल है कि कोई भी पात्र मरते दम तक गाना गाकर ही मरता है। रोने की बात भी गाकर सुनाता है; चाहे पात्र स्त्री हो या पुरुष सभी गाना गाते हैं और ऐसे बे मौके गाते हैं कि कोई भी कला को समझनेवाला उस समय सिर धुनने लगता है। मुख्य बात यह है कि ये नाटक साहित्य, भाषा या जन-समाज की नैतिक, मानसिक अथवा सामाजिक उन्नति के उद्देश्य से नहीं लिखे जाते। उनका उद्देश्य केवल द्रव्योपार्जन होता है। 'मनचले' दर्शकों तथा शौकीन तमाशबीनों की दुर्बलता और काव्य-विषयक अनभिज्ञता से अनुचित लाभ उठाते हैं। उत्तरदायित्व समझने वाले नाटककार को समझना चाहिये कि वह जन-समाज की रुचि को परिमार्जित करे और उसे विशुद्ध-कला का प्रेमी तथा उपासक बनाने की चेष्टा करे; पर ऐसा तभी हो सकता है जब कि नाटक रचयिता स्वयं वैसा हो। पाश्चात्य नाटक संसार में भी कुछ ऐसे लोग हैं जो केवल दूषित वातावरण में खेले जाने लायक ही ड्रामा लिखते हैं, पर वहाँ समाज के भिन्न भिन्न समुदाय के लिये भिन्न-भिन्न कम्पनियाँ और लेखक हैं। वहाँ के एक बहुत बड़े समुदाय का 'नित्यनेम' है कि वे दिन भर कठिन काम काज और मजदूरी आदि करते हैं और रात में 'बिला नागा' तमाशा देखते हैं। पर इनके साथ ही सदा उच्च कोटि के साहित्य तथा कला की दृष्टि से दोष-रहित नाटक भी निकलते रहते हैं। हमारी पारसी कम्पनियों के यहाँ पर तो बस तमाशा ही तमाशा है, साहित्य और कला के प्रेमी को तो दूसरा घर देखना चाहिये। सीन-सीनरी और बाहरी तड़क-भड़क में शायद ही कोई इन्हें पाता हो और तमाशे के प्रेमी को चाहिये ही क्या! इनमें एक साहब आगा हश्र काश्मीरी नाम के हैं, जिनके कुछ नाटक कला की दृष्टि से उच्च कोटि के हैं; जैसे 'यहूदी की लड़की' 'आँख की लता' आदि। एक विचित्र बात यह है कि आगा हश्र हिन्दी में बहुत अच्छी तरह लिखते हैं। यह इन्होंने 'आँख की लता' लिखकर सिद्ध कर दिया। यह

नाटक मामूली बोलचाल की भाषा में लिखा गया है और प्लाट सामाजिक है और मेरे विचार में यह बहुत कुछ दोष-रहित है। इसमें नाटक लिखने कि प्रतिभा के बारे में यह किसी को सन्देह नहीं हो सकता, पर हिन्दी में लिखते समय इन को यह आशङ्का बनी रहती है कि इनके भाव को हिन्दी संसार अपनावेगा कि नहीं। हिन्दी साहित्यक महारथियों को चाहिए कि इनकी कृतियों को यथोचित आदर के साथ ग्रहण करें। अस्तु, हिन्दी साहित्य के लिए नाटक लिखने का जो मार्ग भारतेन्दु जी ने दिखाया था उसका अनुसरण उनके परवर्ती लेखकों ने नहीं किया। उनके समय के लेखक-मंडल ने भारतेन्दु जी के ही ढङ्ग के कुछ नाटक लिखे। उनमें मुख्य ये हैं—

नाटक	लेखक
भारत-सौभाग्य वारांगना-रहस्य प्रयाग रामागमन वृद्धि-विलाप	उपा० पं० बद्रीनारायण चौधरी
कलिकौतुक-रूपक कलि-प्रभाव हठी-हमीर गो-सङ्कट शकुन्तला जवारी खुवारी	पं० प्रतापनारायण मिश्र
केटो कृतांत	बाबू तोताराम
ललिता नाटिका मरहट्टा नाटक भारत-सौभाग्य गो-सङ्कट नाटक	पं० अम्बिकादत्त व्यास

इन लेखकों के साथ ही बाबू श्रीनिवास तथा राधाकृष्णदास का नाम आता है। इनके नाटकों की चर्चा ऊपर हो चुकी है। बस, इन लेखकों के बाद नाटक-लेखन के कार्य में बड़ी शिथिलता आ गई, या यों कहिए कि ऊपर कुछ समय के लिये नाटक का लिखना बन्द हो गया। स्मरण रखना चाहिए कि ऊपर के सब नाटक १९ वीं शताब्दी के अंतिम हिस्से (सन् १८५५—१९००) ई० के भीतर ही लिखे हुए हैं। उपन्यास में तो जो लोगों ने एक दफे हाथ लगाया तो आज तक काम ढीला नहीं हुआ और दिन पर दिन उपन्यास लिखनेवाले निकले आ रहे हैं। पर यही बात, बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है, नाटकों के सम्बन्ध में न हुई। इसका यथार्थ कारण तो परमात्मा जाने, पर प्रगट रूप से मुख्य कारण ही मालूम होते हैं। हिन्दी नाटकों के लिए रङ्गमञ्च का नितान्त अभाव था और अब भी है। व्यापारी कम्पनियाँ हिन्दी नाटकों को पास नहीं फटकने देती थीं। इसकी वजह से हिन्दी नाटक जो लिखे जाते थे उनका कहीं अभिनय नहीं होता था, और नाटकीय साहित्य की सफलता तथा उन्नति, यहाँ तक कि उसका अस्तित्व, अभिनय पर ही निर्भर करता है। नाटक खेलने के लिए लिखे जाते हैं न कि केवल पढ़ने के लिए। दो-एक मण्डलियों ने हिन्दी के नाटकों को खेलने का प्रयत्न किया भी, पर उनको देखने के लिए दर्शक ही नहीं मिलते थे। इसका कारण यह था कि हिन्दी के नाटक विशेषतः संस्कृत के ढङ्ग के लिखे जाते थे और कुछ हरिश्चन्द्र के ढङ्ग पर; पर इस प्रकार के नाटकों में विनोद की सामग्री बहुत कम थी और उनके लेखक प्रायः स्टेज की कठिनाइयों का और नियमों का बहुत कम ध्यान रखते थे; पर हमारे हिन्दी नाटककार इन नियमों को जानते तो थे ही नहीं, ध्यान में कहाँ से रक्खें। हमारे यहाँ के लेखकों ने एक बड़ी भारी भूल यह करनी शुरू की कि वे सब तरफ टाँग अड़ाने लगे। कभी किसी पत्र का सम्पादन करते तो कभी उपन्यास लिखने लगते, कभी कविता में अपनी प्रतिभा-शक्ति की परीक्षा करते तो कभी-कभी एकाध नाटक भी लिख डालते थे। "हम

यह भी लिख सकते हैं, और वह भी, और यह भी," बस यह एक बड़ी भारी बात समझी जाने लगी। पं० प्रतापनारायण मिश्र जी ही को लीजिए, वह पत्र ('ब्राह्मण') का सम्पादन तो करते ही थे, ड्रामा भी लिखने लगे। पं० बदरीनारायण ने भी कोई बात नहीं छोड़ी।

क्या लेख, क्या कविता, क्या नाटक, क्या उपन्यास सभी में लोग हाथ लगा देते थे। इससे होता यह था कि कोई लेखक किसी एक विषय में सिद्धहस्त नहीं होने पाता था। बड़े-बड़े पाश्चात्य विद्वानों में क्या खास बात है, वे जिस विषय को लेते हैं, उसी के पीछे पड़ जाते हैं, और सारा जीवन उसी एक विषय के पारंगत होने में लगा देते हैं। वहाँ के बड़े-बड़े नाटककारों को लीजिए। वे नाटक को छोड़कर तथा उससे स्वाभाविक सम्बन्ध रखनेवाले विषयों को छोड़कर और प्रकार के कामों में भूलकर भी हाथ नहीं डालते। अपने जीवन का बहुत-सा समय संसार के उत्तमोत्तम नाटकों के अध्ययन तथा विभिन्न देशों की नाट्य-शालाओं की अवस्था, उनके नियम और संचालन-प्रणाली तथा संसार के बड़े-बड़े अभिनेताओं के रंग-ढंग तथा उनकी कठिनाइयों का वहीं विशद अध्ययन करते हैं और अच्छे नाटकों के अभिनय को अच्छी तरह देखते हैं। यदि ऐतिहासिक नाटक लिखना हुआ तो उस समय के इति-हास, रहन-सहन, बोल-चाल, 'तर्ज़ माशरत', वेश-भूषा इत्यादि नाटक से सम्बन्ध रखनेवाले मुख्य विषयों से अच्छी तरह अवगत होने में वर्षों बिता देते हैं। कारण यह है कि वहाँ यदि किसी अच्छे नाटककार की कृति में इन विषयों की कोई असंगत बात निकलती है तो वहाँ प्रेस में और पत्रों में बड़ी समालोचना होतीहै और अभिनय के समय भी दर्शक गण हल्ला मचाकर नाटककार की खिल्ली उड़ाते हैं। इन कारणों से वहाँ के नाटककार अपने उत्तरदायित्व को बहुत अच्छी तरह समझते हैं। वे अपने नाटकों में प्रत्येक सीन का, प्रत्येक पात्र की वेषभूषा, चाल-ढाल सूरत-शक्ल तथा बोल-चाल के ढंग का पूरा ब्योरा हर-एक अंक से पहले तथा जहाँ ज़रूरत होती है दे देते हैं, और इसे नाटककार की हैसियत से

अपना अधिकार समझते हैं कि उन्हीं दिए हुए आदेशों के अनुसार उनका नाटक खेला जाय। नाटकों के डाइरेक्टर और मैनेजर भी अपने को उन आदेशों के अनुसार काम करने के लिये बाध्य समझते हैं। इन्हीं बातों से हमारे यहाँ के नाटककार आज भी अपने उत्तरदायित्व का अनुभव नहीं करते हैं, जो मन में आया, लिख मारा। किसी का प्रयास भाषा को उच्च बनाने में ही समाप्त हो जाता है तो कोई रङ्ग और भाव की उत्पत्ति पर अधिक ध्यान देता है। एक नाटककार को जिन सब बातों का जानना अनिवार्य है उनसे शायद कोई भी नहीं अवगत होते और न होने की चेष्टा ही करते हैं। अब आधुनिक समय में हिन्दी के श्रेष्ठ नाटककार श्रीयुत जयशंकर 'प्रसाद' जी कहे जाते हैं। आप नाटक तो लिखते ही हैं, पर आप केवल नाटक ही नहीं, साहित्य के सभी अंगों पर समान रूप से आक्रमण करते हैं। आप 'गल्प' ('शार्ट स्टोरीज़') भी लिखते हैं और कविता भी काफी करते हैं। तात्पर्य यह कि सभी तरफ टाँग अड़ा रहे हैं। किसी एक विषय के पीछे हाथ धोकर नहीं पड़े हैं। इन्हीं कारणों से हिन्दी नाटक की अभी तक उन्नति नहीं हो पाई है। पर आज भी हिन्दी साहित्य के (कर्णधार) लेखक यदि सब बातें जान बूझकर ऐसा न करें तो इसे हिन्दी साहित्य का भी घोर दुर्भाग्य समझना चाहिये।

होनहार लेखक एक दफे समझ लेता है कि उसकी प्रतिभा किस ओर अधिक वेग से झुकती है। बस फिर वह सब तरफ से मुँह मोड़कर उसी तरफ दत्तचित्त हो जाता है, और कुछ कर दिखाता है। साहित्य के विभिन्न अंगों की सेवा करते हुए सारा जन्म यही निर्धारित करने में न बिता देना चाहिए कि हमारी प्रतिभा किधर है।

हमारे कथन का सारांश यही है कि इन ऊपर लिखे हुए कारणों ही से भारतेन्दु के अस्त होने के कुछ ही दिन बाद हिन्दी नाटक का प्रवाह एक प्रकार से बन्द हो गया, और इस समय नाटक के द्वितीय उत्थान के समय नये होनहार लेखक फिर कुछ उसी तरह की भूल कर रहे हैं।

वर्तमान समय और भारतेन्दु-काल के बीच के समय में अच्छे नाटकों के अनुवाद बहुत से हुए। इन अनुवादकों में सबसे पहले काशी के 'भारत-जीवन' के अध्यक्ष बाबू रामकृष्ण वर्मा का नाम आता है। इनके अधिकतर अनुवाद बँगला के नाटकों के हैं, जैसे 'वीर नारी', 'कृष्ण कुमारी', 'पद्मावती', इत्यादि। उनके अनुवाद साधारणतया अच्छे होने पर भी उनमें मौलिक नाटक की यथार्थ सुन्दरता का समावेश न हो सका।

उसके बाद गहमर-निवासी प्रसिद्ध औपन्यासिक बाबू गोपालराम ने 'बभ्रुवाहन', 'देश-दशा', 'विद्या-विनोद' और डा० रवीन्द्रनाथ टैगोर के 'चित्रांगदा' नाटक का अनुवाद किया। इनके कुछ ही पहले पुरोहित गोपीनाथ, एम० ए० ने शेक्सपीयर के दो नाटकों—'रोमियो जुलियट' और 'ऐज यू लाइक इट'—के अनुवाद निकाले थे।

इसके बाद स्व० बाबू द्विजेन्द्रलाल राय के अनुवादों की धूम मची। ये महाशय बँगला के शेक्सपीयर समझे जाते थे। इनके बहुत से नाटक जैसे 'शाहजहाँ', 'नूरजहाँ', 'चन्द्रगुप्त', 'दुर्गादास', 'मेवाड़-पतन' आदि बड़े ही सर्वप्रिय हुए और हिन्दी में इस समय प्रायः उनके अच्छे बुरे सभी नाटकों का अनुवाद हो गया है। इनके अनुवादकों में सबसे प्रसिद्ध पं० रूपनारायण पाण्डेय हैं। इनकी भाषा विशेषतः संस्कृतपूर्ण होती है, पर साधारण तौर से इनके अनुवाद औरों से अच्छे ही होते हैं। डी० एल० राय के गानों के अनुवाद इनके उतने अच्छे नहीं होते। राय बाबू के नाटक इधर इतने लोकप्रिय हुए कि जहाँ-कहीं किसी को कोई नाटक खेलना हुआ तो पहले इन्हीं के नाटकों को देखता था। विशेषतः विद्यार्थियों में इनके नाटकों का बड़ा आदर है। इसका प्रधान कारण यह है कि इनके नाटक बड़े सुरुचिपूर्ण होते हैं। और बड़े उच्च आदर्शों को सामने रखकर लिखे गए हैं। इनका वस्तुविन्यास इतना मनोरम और सरल होता है कि उनको 'स्टेज' करने में बहुत दिक्कत नहीं उठानी पड़ती। इनके नाटक ऐतिहासिक ही हैं, अधिकतर, और उनमें प्रत्येक

में आर्य जाति का गौरव बड़ी ज्वलन्त भाषा में तथा बड़ी युक्ति से वर्णित है। मुख्य बात तो यह है कि इनका आदर्श पाश्चात्य है और वस्तुरचना भी वैसा ही वैज्ञानिक होती है। चरित्र-चित्रण पर बहुत अधिक ज़ोर दिया जाता है; मनोवेग ('इमोशन') ही की प्रधानता सब जगह रक्खी जाती है। प्लाट में कोई भी भाग यथासम्भव ऐसा नहीं रखा जाता जिसका मुख्य वस्तु से कोई भी सम्बन्ध न हो और इनका बड़ा से बड़ा नाटक भी अधिकतर चार 'ड्राप' ही में समाप्त हो जाता है। राय महाशय स्वयं गान-विद्या और नाट्यकला के विशेषज्ञ थे, उनके नाटकों की उत्तमता और सफलता का यह भी मुख्य कारण है। इनके नाटकों को देखते ही मालूम हो जाता है कि वे स्टेज को हर वक्त ध्यान में रखते होंगे, क्योंकि ऐसी ऊटपटांग बातें सायद ही कभी आती हों जिनका स्टेज पर दिखाना असंभव हो। इनके पात्रों की संख्या कभी भी अधिक नहीं होती थी। मुख्य पात्र पाँच या छः से अधिक न होते और तीन या चार पात्रियाँ। हाँ, इतनी कमी उनके नाटकों में भी रह गई है कि वे भी रंगमंच के आदेश ('स्टेज डायरेक्शन्स') बहुत कम या कहीं-कहीं बिलकुल नहीं देते। ज्यादातर उनके आदेश बस इतने ही में खतम हो जाते हैं, जैसे—"स्थान आगरे का किला; समय संध्या"; बस। लिखते तो हैं वह ऐतिहासिक नाटक, पर उनके पात्रों की वेशभूषा वस्त्रालंकार कैसा होने चाहिये, उनकी सूरत शकल से कैसे भाव व्यक्त होने चाहिये, तथा सीन-सीनरी कैसी होनी चाहिये, यह सब कुछ नहीं लिखते। अंग्रेजी के प्रसिद्ध नाटककार बर्नार्ड शा के नाटकों में कभी-कभी दो दो पेजों में उसका वर्णन रहता है। साधारण से सीधारण बात, जैसे कमरे की सजावट कैसी है, उसमें किस ओर खिड़कियाँ हैं, किधर आग की अँगीठी है, किधर कुर्सी है, किधर मेज़ है, बैठनेवाला क्या कर रहा है, उसका मुख किधर है, इत्यादि-इत्यादि मामूली बातों का वर्णन रहता है। पर यही बातें, जिन्हें हम मामूली समझते हैं, नाटक को सफल बनाने में बड़ा दख़ल देती हैं। कथोपकथन

में कौन पात्र किस भाव को किस अन्दाज़ से अथवा किस प्रकार की भाव-भंगी तथा स्वर से कौन बात कहता है इसका भी संक्षिप्त उल्लेख नाटककार को करते रहना चाहिये, जैसा कि पाश्चात्य नाटककार करते हैं। उससे अभिनेता को नाटककार के मर्म को समझना संभव हो जाता है।

कुछ लेखकों ने संस्कृत के नाटकों का हिन्दी में अनुवाद करना फिर शुरू किया। इनमें राय बहादुर लाला सीताराम बी० ए० का नाम अधिक प्रसिद्ध है। उन्होंने संस्कृत के प्रायः सभी अच्छे अच्छे नाटकों के अनुवाद कर डाले। सन् १८८७ में उनका 'नागानंद' का अनुवाद निकला। इसके बाद उन्होंने क्रमशः 'मृच्छकटिक', 'महावीर-चरित', 'उत्तररामचरित', 'मालतीमाधव', और 'मालविकाग्निमित्र' का अनुवाद किया। इन नाटकों के अतिरिक्त आपने काव्यों का भी अनुवाद किया है। उनमें आपका 'हिन्दी मेघदूत' बहुत प्रसिद्ध है। आपके नाटकों की भाषा सरल और सुगम होती है, पर अनुवाद उतना अच्छा नहीं है। मूल के भाव पूर्णतया व्यक्त नहीं होते। संस्कृत के अतिरिक्त आपने शेक्सपीयर के नाटकों के भी अनुवाद कर डाले हैं। हिन्दी में इतने नाटकों के अनुवाद शायद और किसी ने नहीं किए हैं।

इनके उपरान्त पं० सत्यनारायण कविरत्न ने भवभूति के दो सर्वश्रेष्ठ नाटकों—'उत्तररामचरित' तथा 'मालतीमाधव'—का बहुत अच्छा अनुवाद किया है। श्लोकों का अनुवाद अधिकतर आपने ब्रज-भाषा के सवैयों में किया है और उन्हें भावाभिव्यक्ति में बहुत कुछ सफलता प्राप्त हुई।

अब इस समय, वर्तमानकाल में, नाटकों की ओर फिर लोगों का ध्यान वेग से झुका है और दो एक प्रसिद्ध संस्थाएँ इसके लिये बड़ा उद्योग कर रही हैं कि हिन्दी में भी पाश्चात्य सर्वश्रेष्ठ नाटककारों के नाटकों के टक्कर के लिखे जायँ। इसके लिये सबसे आवश्यक कार्य है जनसमुदाय की नाटकीय रुचि को परिमार्जित करना। इसके लिये ये

संस्थाएँ योग्य अनुवादकों से विलायत के सर्वश्रेष्ठ नाटकों का अनुवाद करा रही हैं। इससे यह होगा कि लोगों को कम से कम बहुत सुन्दर प्रथम श्रेणी के नाटकों का ढंग देखने में आ जायगा और फिर लोग इस प्रकार के नाटकों के लिखने की भी चेष्टा करेंगे और इस तरह हिन्दी नाटक का आदर्श भी बहुत कुछ ऊँचा हो सकेगा। मुख्य बात, जिसकी इस समय बड़ी ज़रूरत है, यह है कि हिन्दी भाषा को इस योग्य बनाना कि छोटे-छोटे वाक्यों में गूढ़ से गूढ़ विचारों का समावेश हो सके। नाटक के लिये बोलचाल की मुहावरेदार एक ऐसी शैली की आवश्यकता है जिसकी व्यञ्जक शक्ति बहुत अधिक हो, पर उसमें संस्कृत के कठिन शब्दों अथवा कहीं के भी ऐसे शब्दों का इस्तेमाल न रहे जो रोज की बोलचाल में न आते हों। 'स्टाइल' बहुत सरल हो पर असर गहरा करनेवाली हो। अंग्रेजी की चुस्त, चलती हुई जबान में न जाने क्या जादू है कि जिस विचार को एक हिन्दी विद्वान् को प्रगट करने में पन्नों रँगना पड़ता है उसी को वे एक वाक्य में भर देते हैं। वह बात अभी हिन्दी भाषा में नहीं आई है। यह तभी हो सकता है जब कि साहित्य में रोज की साधारण बोलचाल को सोलहों आना इस्तेमाल में ले आने और उसी में सब प्रकार के भावों को, चाहे वे कैसे भी गहन से गहन विषय क्यों न हों, प्रकट करने की प्रथा चल पड़ेगी। यह अवश्य है कि आरम्भ में बहुत से प्रयोग 'असाहित्यिक' और 'अजीब' से लगेंगे, पर वे ही प्रयोग में आते-आते मँज जाँयगे और तब न खटकेंगे। कुछ रूढ़िवादी साहित्यिकों की यह 'खटक' हिन्दी भाषा के विकास में बड़ी बाधा दे रही है और इसी कारण से हमें ऐसे साहित्यिक महारथी बहुत 'खटक' रहे हैं। उनकी राय में जब तक कोई बढ़िया सा आडम्बरयुक्त संस्कृत शब्द न आया हो, तब तक भाषा साहित्यिक हो ही नहीं सकती।

हमारे बाबू जयशङ्कर प्रसाद के दो तीन नाटक 'जनमेजय का नाग-यज्ञ', 'अजातशत्रु' और 'स्कन्दगुप्त' आदि हिन्दी के मौलिक नाटकों में सर्वश्रेष्ठ माने जा रहे हैं। ये सभी नाटक ऐतिहासिक हैं। प्रसाद

विषय में हम ऊपर थोड़ा सा जिक्र कर चुके हैं और ऐतिहासिक नाटककार के लिये जिन विषयों की योग्यता रखना अनिवार्य है तथा उसका उत्तरदायित्व साधारण सामाजिक अथवा नैतिक नाटककार से कितना गंभीर है इसकी भी कुछ सूचना हम ऊपर दे चुके हैं। यहाँ पर हमें केवल यही कहना है कि प्रसाद जी के नाटकों में दो एक बातें हमें बहुत खटकती हैं। एक तो पात्रों की संख्या इनमें इतनी अधिक हो गई है, और उनके आपस के संबंध ऐसे जटिल हैं कि उनको पढ़ते या देखते समय स्मरण रखना या समझ सकना असंभव है। इससे नाटक का प्लाट बहुत भद्दा हो जाता है और चरित्र-चित्रण, जो कि नाटक-नाविल की जान है, किसी भी पात्र पर ठीक नहीं हो पाता और न दर्शक के हृदय पर किसी चित्र की छाप पड़ने पाती है। उसकी सारी चेतना-शक्ति इसी में भरी रह जाती है कि कौन पात्र क्या है, अमुक पात्र अमुक पात्र का भाई है कि चाचा है, बेटा है कि ताऊ।

प्लाट में कहीं-कहीं ऐसे भी दृश्य आ जाते हैं जिनका नाटक की मूल कथा से कोई खास क्या दूर का भी कोई संबंध नहीं मालूम होता। और कथावस्तु के विकास और न उसके विन्यास में ही कोई विशेष सहायता मिलती है। इनके सिवाय भाषा और भाव भी प्रायः साधारण कोटि के शिक्षित वर्ग के लिये दुरूह होते हैं। रहस्यमय काव्य की पहेलियों के से वाक्य और उनके गूढ़ भाव रंगमंच के लिये एक प्रकार से व्यर्थ ही होते हैं। वह तो कवियों के चर्वणा-योग्य सामग्रियाँ हैं। यही कुछ थोड़ी सी बातें हैं जिनके कारण 'प्रसाद' जी के नाटक रंगमंच की दृष्टि से असफल रहे।

स्वर्गीय पं० बदरीनाथ के भी दो-एक मौलिक नाटक मुख्यतया 'दुर्गावती', अच्छे लोकप्रिय हुए। इनके नाटकों में उतनी साहित्यिकता न होते हुए भी वे रंगमंच पर अधिक सुविधाजनक सिद्ध हुए।

प्रहसन के लिये हिन्दी संसार में श्रीयुत जी० पी० श्रीवास्तव बहुत प्रसिद्ध हैं। यद्यपि इनके प्रहसन अधिकतर कुरुचिपूर्ण और भद्दे हैं और

इनका हास प्रायः बहुत निम्नस्तर का होता है, तो भी किसी उच्चकोटि के प्रहसन के अभाव में आपकी अच्छी सुख्याति हुई। इनकी रचनाएँ अधिकतर मौलिक न होकर प्रसिद्ध फ्रांसीसी प्रहसनकार मोलियर के आधार पर लिखी गई हैं।

श्रीयुत राधेश्याम तथा 'बेताब' आदि कुछ नाटककारों ने व्यापारी कम्पनियों के खेलने योग्य बहुत से बाजारू नाटक लिखे, पर उनकी चर्चा यहाँ व्यर्थ है।

सबसे बड़ी बाधा हिन्दी नाटक के उत्थान में है एक राष्ट्रीय रंगमंच का पूर्ण अभाव। बँगला, मराठी और गुजराती आदि के नाटकों की उन्नति का मुख्य कारण यही है कि उनके यहाँ अपने रंगमंच का अभाव नहीं है। न जाने यह कमी हिंदी संसार से कब दूर होगी। यहाँ के यह कम लज्जा की बात नहीं है।

अभी इधर थोड़े दिनों से श्रीयुत लक्ष्मीनारायण नाम के एक सज्जन नाटक-लेखन-कला में अच्छी योग्यता का परिचय दे रहे हैं। आपका आधुनिक नाटक का आदर्श समयोचित और सब तरह से ठीक है और आपके प्रयत्न उचित दिशा में हैं। श्रेष्ठ कोटि के पाश्चात्य के नाटक का आदर्श अपने आपने सामने रक्खा है और सफलता भी आपको मिल रही है। आपके 'राजमार्ग' और 'सिंदूर की डिबिया' का अच्छा स्वागत हुआ है। पर वही पुराना रोना, हिंदी का रंगमंच न होने के कारण आपका प्रयास भी व्यर्थ सिद्ध हो रहा है।

रंगमंच के अभाव ही को देखकर शायद कुछ सज्जन हाल ही में एकांकी नाटक लिखने लगे हैं। प्रायः दस से अधिक अभी न लिखे गये होंगे। पर हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि इनमें एक को भी किसी रंगमंच पर अभिनीत होने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ। कदाचित् इसे व्यर्थ का प्रयास समझकर एकाएक इसका लिखना भी बंद हो गया।

पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी

पंडितों की पंचायत

यह संयोग की बात कही जायगी कि इस बार के एकादशीवाले झगड़े की सभा में मुझे भी उपस्थित रहना पड़ा। मैं बिलकुल ही नहीं जानता था कि काशी के पञ्चाङ्ग-निर्माताओं ने गाँव में रहनेवाले विश्वास-परायण पण्डितों को आलोड़ित कर दिया है। वैशाख शुक्ल पक्ष की एकादशी किसी ने बृहस्पतिवार के दिन बता दी है और किसी ने शुक्र-के दिन। अचानक जब एक दिन पण्डितों की पंचायत में मुझे बुला भेजा गया तो एकदम शस्त्रहीन योद्धा की भाँति मुझे संकोच के सहित ही जाना पड़ा। सभा में उपस्थित पंडितों में से अधिकांश मुझे जानते थे, किसी-किसी के मत से मैं घोर नास्तिक भी था, फिर भी न-जाने क्यों इन्होंने मुझे बुलाने की बात का समर्थन किया। शायद इसलिये कि मैं कुछ ज्योतिष-शास्त्र से परिचित समझा जाता था और आलोच्य विषय का कुछ सम्बन्ध उक्त शास्त्र से भी था। जो हो, मैंने इसे पंडित-मण्डली की उदारता ही समझी और शुरू से आखीर तक अपना कोई स्वतंत्र मत व्यक्त न करने का संकल्प-सा कर लिया।

मैं जब सभास्थल पर पहुँचा तो विचार आरम्भ हो चुका था। इसी-लिये यह जानने का मौका ही नहीं मिला कि सभा का कोई सभापति या सरपञ्च है या नहीं। शायद इसका निर्वाचन ही नहीं हुआ था। मुझे देखते ही एक पंडित जी ने उत्तेजित भाव से कहा कि "देखिए 'विश्वपञ्चांग' वालों ने क्या अनर्थ किया है। इन लोगों का गणित तीन लोक से न्यारा होता है। भई, सब जगह जबरदस्ती चल सकती है लेकिन शास्त्र पर जबरदस्ती नहीं चलेगी।" मैंने मन ही मन इसका अर्थ समझ लिया। यह मुझे युद्ध-क्षेत्र में आ डटने की ललकार थी। मैं हँस-कर रह गया।

शास्त्र पर जबरदस्ती ! मेरी भावुकता को जबरदस्त धक्का लगा। मेरा विद्रोही पाण्डित्य तिलमिला कर रह गया। क्षण-भर में मेरे सामने सम्पूर्ण ज्योतिषिक इतिहास का रूप खेल गया। एक युग था, जब हमारे देश में लगध मुनि का अत्यन्त सूक्ष्म गणित प्रचलित था! लेकिन पण्डितों का दल सन्तुष्ट नहीं हुआ, उसने किसी भी प्राचीन शास्त्र को प्रमाण न मानकर अपना अनुसंधान जारी रखा। गणना सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती गई। अचानक भारतवर्ष के उत्तरी-पश्चिमी किनारे पर यवन-वाहिनी का भीषण रण-तूर्य सुनाई पड़ा। देश के विद्यापीठ—गान्धार से लेकर साकेत तक—एकाधिक बार विध्वस्त हुए। भारतवर्ष कभी जीतता रहा, कभी हारता रहा। कभी सारा भारतीय साम्राज्य समृद्ध-शाली नगरों से भर गया, कभी श्मशान-परिणत जनपदों के हाहा-कार से झनझना उठा। पर अनुसन्धान जारी रहा। भारतीय और ग्रीक पंडितों के ज्ञान का संघर्ष भी चलता रहा। हठात् ईसा की चौथी शताब्दी में भारतीय ज्योतिष के आकाश में कई ज्वलन्त ज्योतिष्क पिण्ड एक ही साथ चमक उठे। भारतीय गणना बहुत परिमाण में यावनी विद्या से समृद्ध हुई। यावनी विद्या हतदर्प होकर भारतीय गौरव को वरण करने लगी। उस दिन निःसंकोच भारतीय पण्डितों ने घोषणा की—"यवन म्लेच्छ हैं सही, पर इस (ज्योतिष) शास्त्र के अच्छे जानकार हैं। वे भी ऋषिवत् पूज्य हैं, ब्राह्मण ज्योतिष की तो बात ही क्या है!" (गर्गसंहिता)

मैंने कल्पना के नेत्रों से देखा महागणक आचार्य वराहमिहिर न्याया-सन पर बैठकर तत्काल प्रचलित पाँच सिद्धान्तों के मतों का विचार कर रहे हैं। इनमें दो विशुद्ध भारतीय मत के प्राचीनतर सिद्धान्त हैं, दो में यावनी विद्या का असर है, पाँचवाँ (सूर्य-सिद्धान्त) स्वतंत्र भारतीय चिन्ता का फल है। वराह-मिहिर ने पहले दोनों यावनी प्रभावापन्न सिद्धा-न्तों की परीक्षा की। पौलिश का सिद्धान्त अच्छा मालूम हुआ, रोमक भी उसके निकट ही रहा। आचार्य ने छोटी-मोटी भूलों का खयाल न करते

हुए साफ कह दिया—अच्छे हैं। फिर 'सूर्यसिद्धान्त' की जाँच हुई। आचार्य का चेहरा खिल उठा। यह और भी अच्छा था। और अन्त में ब्रह्म और शाकल्य के सिद्धान्तों की बारी आई। आचार्य के माथे पर जरा-सा सिकुड़न का भाव दिखाई दिया, उन्होंने दोनों को एक तरफ ठेलते हुए कहा—उहुँ! ये दूर-विभ्रष्ट हैं।

पौलिशकृतः स्फुटोऽसौ तस्यासन्नस्तु रोमकः प्रोक्तः
स्पष्टतरः सावित्रः परिशेषौ दूर-विभ्रष्टौ। (पंचसिद्धान्तिका)

उस दिन किसी की हिम्मत नहीं थी कि आचार्य को शास्त्र पर जय-दंस्ती करनेवाला कहे। क्योंकि वह स्वतंत्र चिन्ता का युग था, भारतीय समाज इतना रूढ़िप्रिय और परापेक्षी नहीं था। वह ले भी सकता था और दे भी सकता था। मैंने देखा ब्रह्मगुप्त के शिष्य भास्कराचार्य निर्भीक भाव से कह रहे हैं—"इस गणितस्कंध में युक्ति ही एकमात्र प्रमाण है, कोई भी आगम प्रमाण नहीं।" यह बात सोलह आने सही थी और भारतीय पण्डित-मंडली को सही बात स्वीकार करने का साहस था। पर आज क्या हालत है!

मैं जिस समय यह चिन्ता कर रहा था उसी समय पंडित लोग 'निर्णयसिन्धु' और 'धर्मसिन्धु' के पन्ने उलट रहे थे। नाना प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध ऋषियों, पुराणों और संहिताओं के वचन पढ़े जा रहे थे और उनकी संगतियाँ लगाई जा रही थीं। मैं उद्विग्न-सा होकर सोच रहा था कि ये निबन्ध-ग्रन्थ क्यों बनाये गए? मुझे ऐसा लगा कि पश्चिम में एक आत्म विश्वासी धर्म का जन्म हुआ है जो किसी से समझौता करना नहीं जानता, किसी को मित्र नहीं मानता। उसके दाहिने हाथ से कठोर कृपाण के आक्रमण से बड़ी-बड़ी सभ्यताओं के लौह-प्राचीर चूरमूर हो जाते हैं, और बाँये हाथ के अमृत आश्वासन से पराजित जन-समूह एक नये जीवन और नये वैभव के साथ जी उठता है। जो एक बार उसके अधीन हो जाता है वही उसके रंग में आपाद् मस्तक रँग जाता है। वह इसलाम है।

इसलाम विजय-स्फीत-वक्ष होकर भारतीय संस्कृति को चुनौती देता है, उसके बारंबार आक्रमण से उत्तरी भारत संत्रस्त हो उठता है और कुछ काल के लिये समूचा हिन्दुस्तान त्राहि-त्राहि की मर्मभेदी आवाज से गूँज उठता है। धीरे-धीरे उत्तर के विद्यापीठ दक्षिण और पूर्व की ओर खिसकते जाते हैं। महाराष्ट्र नवीन आक्रमण से मोर्चा लेने के लिये कटिबद्ध होता है और भारतीय विश्वास के अनुसार सबसे पहले अपने धर्म की रक्षा को तैयार होता है। भारतीय पण्डितों ने कभी इतनी मुस्तैदी के साथ स्तूपीभूत शास्त्र-संग्रह की छानबीन नहीं की थी, शायद भारतीय संस्कृति को कभी ऐसी विकट ललकार के सुनने की संभावना नहीं हुई थी। क्षणभर के लिये ऐसा जान पड़ा कि भारतीय मनीषा ने स्वतंत्र चिन्ता को एकदम त्याग दिया है, केवल टीका, केवल निबन्ध, केवल संग्रह-ग्रन्थ! शास्त्र के किसी अंग पर स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं लिखे जा रहे हैं। सर्वत्र टीका पर टीका, तिलक पर तिलक, तस्यापि तिलक—एक कभी समाप्त न होनेवाली टीकाओं की परम्परा।

देखते-देखते टीका-युग का प्रभाव देश के इस छोर से उस छोर तक व्याप्त हो जाता है। महाराष्ट्र, काशी, मिथिला और नवद्वीप टीकाओं और निबन्धों के केन्द्र हो उठते हैं। शास्त्र का कोई वचन छोड़ा नहीं जाता है, किसी भी ऋषि की उपेक्षा नहीं की जा रही है, पर भयंकर सतर्कता के साथ प्रचलित लोकनियमों का ही समर्थन किया जाता है। इस नियम के विरोध में जो ऋषि-वचन उपलब्ध होते हैं उन्हें 'ननु' के साथ पूर्व पक्ष में कर दिया जाता है और उत्तर पक्ष सदा स्थानीय आचारों का समर्थन करता है। पंडितों की भाषा में इसी को संगति लगाना कहा जाता है। संगति लगाने का यह रूप मुझे इसदर्प भारतीय धर्म की सबसे बड़ी कमजोरी जान पड़ी। मैं ठीक समझ नहीं सका कि शास्त्रीय वचनों के इन विशाल पर्वतों को खोदकर ये चुहियाँ क्यों निकली आ रही हैं।

यह जो एकाधर्मी मत का निर्णय मेरे सामने हो रहा है, जिसमें

बीसियों आचार्यों के सैकड़ों श्लोक उद्धृत किये जा रहे हैं, अपने आप में ऐसा क्या महत्त्व रखता है जिसके लिये एक दिन सैकड़ों पंडितों ने परिश्रम-पूर्वक सैकड़ों निबन्ध रचे थे और आज आसेतु हिमाचल समस्त भारतवर्ष के पंडित उनकी सहायता से व्रत का निर्णय कर रहे हैं? क्या श्रद्धापूर्वक किसी एक दिन उपवास कर लेना पर्याप्त नहीं था! यदि एकादशी किसी दिन ५५ दण्ड से ऊपर हो गई, या किसी दिन उदय काल में न आ सकी, या किसी दिन दो बार उदयकाल में आ गई, तो क्या बन या बिगड़ गया? किसी भी एक दिन व्रत कर लेना क्या पर्याप्त नहीं है! मुझे 'ननु', 'तथाच' और 'उक्तंच' की धुआँधार वर्षा से मध्ययुग का आकाश इतना आविल जान पड़ा कि बीसवीं शताब्दी का ज्ञानलोक अनेक चेष्टाओं के बाद भी निबन्धकारों की असली समस्या तक नहीं पहुँच सका। मैंने फिर एक बार सोचा, शास्त्रीय वचनों के इन विशाल पर्वतों को खोदकर यह चुहिया क्यों निकली जा रही है।

लेकिन आज चाहे कुछ भी क्यों न जान पड़े, टीका-युग का आरंभ नितान्त अर्थहीन नहीं था। मुझे साफ दिखाई दिया, भारतवर्ष की पद्ध्वस्त संस्कृति हेमाद्रि के सामने खड़ी है, चेहरा उसका उदास पड़ गया है, अश्रु-अंध-नयन कादरशायी-से दिख रहे हैं, वदन-कमल मुरझा गया है। हेमाद्रि का मुखमण्डल गंभीर है, भ्रूदेश किञ्चित् कुञ्चित हो गए हैं, विशाल ललाट पर चिन्ता की रेखाएँ उभड़ आई हैं, अधरोष्ठ दाँतों के नीचे आ गया है—वे किसी सुदूर की वस्तु पर दृष्टि लगाये हैं। यह दृष्टि कभी अर्थ-हीन नहीं हो सकती, वह किसी निश्चित सत्य पर निपुण भाव से आबद्ध है। शायद वह भारतवर्ष के विच्छिन्न रस्म और रवाजों की बात होगी, शायद वह स्तूपभूत शास्त्रों के मत-भेद की चिन्ता होगी, शायद वह सम्पूर्ण आर्य-सभ्यता को एक कठोर नियम-सूत्र में बाँधने की चेष्टा होगी, शायद वह नवागत प्रतिद्वन्द्वी धर्म की अचिन्तनीय एकता के जवाब की बात होगी—पर वह थी बहुत दूर की बात। मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं रहा। जिस पण्डित के लिये

समग्र शास्त्र हस्तामलकवत् थे, जिसकी आँखों के सामने भारतीय संस्कृति नित्य कुचली जा रही थी, उस महामानव का कोई प्रयत्न निरर्थक नहीं हो सकता।

अगर सारा भारतवर्ष एक ही दिन उपवास करे, एक ही दिन पारण करे, एक ही मुहूर्त्त में उठे-बैठे, तो निश्चय ही वह एकसूत्र में ग्रथित हो जाय। हेमाद्रि और उनके अनुयायियों का यही स्वप्न था, वह सफल हुआ। आज की यह पञ्चायत उसी सफलता का सबूत है। इस समय यह विचार नहीं हो रहा है कि विश्वपञ्चाङ्ग का मत मान्य है या और किसी का, बल्कि इस बात का निर्णय होने जा रहा है कि वह कौन-सा एक—और केवल एक—दिन होना चाहिये जब सारे भारत के गृहस्थ एक ही चिन्ता के साथ उपोषित होंगे। आज की सभा का यही महत्त्व है।

हेमाद्रि का स्वप्न सफल हुआ; पर उद्देश्य नहीं सिद्ध हो सका। भारतवर्ष एक ही तिथि को व्रत और उपवास करने लगा, एक ही मुहूर्त में उठने-बैठने के लिये बद्धपरिकर हुआ; पर एक नहीं हो सका। उसकी कमजोरी केवल रस्मों और रवाजों तक ही सीमित नहीं थी, यह तो उसकी बाहरी कमजोरी थी। जातियों और उपजातियों से उसका भीतरी अंग जर्जर हो गया था, हजारों संप्रदायों में विभक्त होकर उसकी आध्यात्मिक साधना शतच्छिद्र कलश की भाँति संग्रहहीन हो गई थी—वह हतज्योति उल्का-पिण्ड की भाँति शून्य में छितराने की तैयारी कर रहा था।

लेकिन डूबते-डूबते भी सँभल गया। तकदीर ने तन्त पर उसकी खबर ली, ज्यों ही नाव डगमगाई, त्यों ही किनारा दिख गया। और भी सुदूर दक्षिण से भक्ति की निविड़ घन-घटा दिखाई पड़ी, देखते-देखते यह मेघखण्ड सारे भारतीय आसमान में फैल गया और आठ सौ वर्षों तक इसकी जो धाराधार वर्षा हुई, उसमें भारतीय साधना का अनेक कूड़ा बह गया, उसके अनेक बीज अंकुरित हो उठे। भारतवर्ष नये उत्साह

और नये वैभव से शक्तिशाली हो उठा। उसने उदात्त कंठ से दृढ़ता के साथ घोषित किया—प्रेमापुमर्थो महान्—प्रेम ही परम पुरुषार्थी है! विधि और निषेध, शास्त्र और पुराण, नियम और आचार, कर्म और साधना, इन सब के ऊपर है। यह अमोघ महिमाशाली प्रेम। प्रेमी जाति और वर्ण से ऊपर है, आश्रम और सम्प्रदाय से अतीत है।

जिन दिनों की बात हो रही है, उन दिनों भारतवर्ष का प्रत्येक कोना तलवार की मार से झनझना रहा था, बड़े-बड़े मन्दिर तोड़े जा रहे थे, मूर्तियाँ विध्वस्त की जा रही थीं, राज्य उखाड़े जा रहे थे। विच्छिन्न हिन्दू-शक्ति जीवन के दिन गिन रही थी और साथ ही दो भिन्न दिशाओं से उसे संहत करने का प्रयत्न चल रहा था। विच्छेद और संघात के दो परस्पर- विरोधी प्रयत्नों से एक अज्ञातपूर्व दशा की सृष्टि हुई। हिन्दू सभ्यता नयी चेतना के साथ जाग उठी। आज जो आलोचना चल रही है, वह उसी नयी चेतना का भग्नावशेष है। उसमें कोई स्फूर्ति नहीं रह गई है। नीरस और प्रलम्बमान तर्क-जाल से उकताकर मैं उद्विग्न हो रहा था। जी में आया, यहाँ से उठ चलूँ और इस विचार के आते ही मेरी कल्पना वहाँ से उठाकर मुझे अन्यत्र ले चली।

मुझे ऐसा जान पड़ा, मैं सारे जगत् के छोटे-मोटे व्यापार को देख सकता हूँ। मेरी दृष्टि समुद्र पार करके अद्भुत कर्ममय लोक में पहुँची। यहाँ के मनुष्यों में किसी को फुरसत नहीं जान पड़ी, सबको समय के लाले पड़े थे। सारे द्वीप में एक भी ऐसा गाँव नहीं मिला, जहाँ घन्टों तक एकादशी व्रत के निर्णय की पंचायत बैठ सके। सभी व्यस्त, सभी चंचल, सभी तत्पर! मैं आश्चर्य के साथ इनकी अपूर्व कर्म-शक्ति देखता रह गया। यहाँ से लाल, काली, नीली आदि अनेक तरह की तरंगें बड़े वेग से निकल रही थीं और सारे जगत के वायुमण्डल को मुहूर्त भर में तरंगित कर देती थीं। भारतवर्ष के शान्त वायुमण्डल पर भी ये बार-बार आघात करती हुई नजर आईं। वह भी कुछ विक्षुब्ध हो उठा। ये विचारों की लहरें थीं।

मैं सोचने लगा, यूरोप से आये हुए नये विचार किस प्रकार नित्यप्रति हमारे समाज को अज्ञात भाव से एक विशेष दिशा की ओर खींचे लिये जा रहे हैं। पुस्तकों, समाचार-पत्रों, चलचित्रों और रेडियो आदि के प्रचार से हमारे समाज के विचार में भयंकर क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं। भयङ्कर इसलिये कि अभी तक यह समाज इस क्रान्तिकारी विचार के महाभार को सम्हालने के योग्य नहीं हुआ है—उसके पैर लड़खड़ा रहे हैं। उसके कन्धे दुर्बल हैं, उसकी छाती धड़क रही है। हम सन्त्रस्त की तरह इन विचारों को देखते हैं; पर जब अज्ञात भाव से ये ही हमारे अन्दर घर कर जाते हैं तो या तो हम जान ही नहीं सकते या यदि जान सकते हैं तो घबरा उठते हैं। आज की सभा भी इसी घबराहट का एक रूप है।

जिस दिन तक भारतीय ज्योतिष-शास्त्र के साथ इस नवीन विचार का संघर्ष नहीं चला था तब तक दृश्य और अदृश्य और गणना नामक दो अद्भुत शब्दों का आविष्कार नहीं हुआ था। साधारण दिमाग को यह समझ में नहीं आवेगा कि गणना—ज्योतिष की प्रत्यक्ष गणना—दृश्य और अदृश्य एक ही साथ कैसे हो सकती है। पण्डित लोग इस बात को इस प्रकार समझाते हैं—पहली तरह की गणना वह जिसे हमारे प्राचीन आचार्यों ने बताई है। यह ऋषिप्रोक्त गणना है। इस पर से अगर ग्रह-गणित करो तो कुछ स्थूल आता है, अर्थात् इस स्थान पर से ग्रह कुछ इधर-उधर हटा हुआ नजर आता है। पर आधुनिक वैज्ञानिक गणना से वह ठीक स्थान पर दिखता है। यह तो कहा नहीं जा सकता कि ऋषियों की गणना गलत है, असल बात यह है कि वह अदृश्य गणना है, वह आसमान में ग्रहों को यथास्थान दिखाने की गणना नहीं है; बल्कि एकादशी आदि व्रतों के निर्णय करने की गणना है। ये व्रत भी अदृश्य हैं, इनके फल भी अदृश्य हैं, फिर इनकी गणना क्यों अदृश्य न हो? दृश्य-गणना आधुनिक विज्ञान-सम्मत है। इसका काम ग्रहण, युति, आदि दृश्य पदार्थों को दिखाना है। कुछ पण्डित

पहली गणना को ही मानकर पत्रा बनाते हैं, कुछ दूसरी के हिसाब से, कुछ दिनों को मिलाकर। इन दोनों को मिलाने से जिस 'दृश्यादृश्य' नामक विसंकुल गणना का अवतार हुआ है उसमें कई पक्ष हैं, कई दल हैं। कोई स्वपन, ? कोई निरयण? कोई रैवत, कोई चैत्र, अनेक मत खड़े हुए हैं। झगड़ा बहुत-सी छोटी-मोटी बातों तक पहुँचा हुआ है। उदाहरण के लिये मान लिया जाय कि किसी प्राचीन पण्डित ने कहा कि 'क' से 'ख' स्थान का देशान्तर-काल एक घंटा है और आज के इस वैज्ञानिक युग में प्रत्यक्ष सिद्ध हो गया है कि एक घंटा नहीं, पौन घंटा है। अब कौन-सा मत मान लिया जाय ! कोई एकादशी व्रत के लिये प्राचीन आचार्य की बात पर चिपटा हुआ है, दूसरा इतनी-सी बात में उदार होना पसन्द करता है। इन अनेक झगड़ों के कारण एकादशी व्रत का निर्णय करना बड़ा मुश्किल हो गया है। प्रत्येक पत्रा अलग अलग राय देता है, प्रत्येक पण्डित अलग-अलग मत का समर्थन करता है। यह पश्चिमी विचारों के संघर्ष का परिणाम है। आज की इस छोटी-सी सभा का कोई भी पण्डित यह बात ठीक-ठीक नहीं समझ रहा है। एकादशी व्रत का यह झगड़ा सारडा ऐक्ट से कम खतरनाक नहीं है, बाबू भगवानदास के प्रस्तावित कानून से कम उद्वेगजनक नहीं है। अगर ये कानून भारतीय संस्कृति को हिला सकते हैं तो यह झगड़ा और भी अधिक हिला देगा

लेकिन भारतीय संस्कृति क्या सचमुच ऐसी कमजोर नींव पर खड़ी है, कि कोई एक ऐक्ट, कोई एक कानून और एक विचार-विनिमय उसे हिला दे ? मैं समझता हूँ नहीं। मेरे सामने छः हजार वर्षों की और सहस्रों योजन विस्तृत देश की विशाल संस्कृति खड़ी है, उसके इस वृद्ध शरीर में जरा भी बुढ़ापा नहीं है, वह किसी चिरनवीन प्रेरणा से परिचालित है। उसके मस्तिष्क में सहस्रों वर्ष का अनुभव है; लेकिन थकान नहीं है, उसकी आँखों में अनादि तेज झलक रहा है, पर आलस्य नहीं है ! वह अपूर्व शक्ति और अनंत धैर्य को अपने वक्षःस्थल में वहन करती

आ रही है। उसने अपने विराट् परिवर्तनशील दीर्घ जीवन में क्या-क्या नहीं देखा है ? कुछ और देख लेने में उसे कुछ भी झिझक नहीं, कुछ भी हिचक नहीं है। जो लोग इस तेजोमय मूर्ति को नहीं देख सकते वही घबराते हैं, मैं नहीं घबरा सकता।

शास्त्र-चर्चा अब भी चल रही थी। मैं सोचने लगा—क्या यह जरूरी नहीं है कि सभी पचांगवाले एकमत होकर एक ही तरह का निर्णय करें ? शायद नहीं। क्योंकि हमारा देश एक विचित्र परिस्थिति में से गुजर रहा है। वह पुराना रास्ता छोड़ने को बाध्य है, किन्तु नया रास्ता अभी मिला नहीं। वह कुछ पुराने के मोह में और कुछ नये के नशे में भूल रहा है। किसी दूसरे के दिखाये रास्ते से जाने की अपेक्षा खुद रास्ता ढूँढ लेना अच्छा है। चलने दो, इन भिन्न-भिन्न मतों को, भारतीय जनमत स्वयमेव इनमें से अच्छे को चुन रहा है। इस दृष्टि से इस सभा का बड़ा महत्त्व है। यह भटके हुए लोगों का राह खोजने का प्रयास भी अच्छा है।

परिचय

पं० बालकृष्ण भट्ट

भट्ट जी का जन्म संवत् १६०१ में प्रयाग में हुआ था। आप संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। संवत् १६३४ में 'हिन्दी-प्रदीप' नामक एक हिन्दी पत्र आपने निकाला, और ३९ वर्ष तक उसे चलाया। आपकी निबन्ध-लेखन-शैली अद्वितीय थी। हास्यरस के लेख लिखने में भी आप बेजोड़ थे।

पं० बदरीनारायण चौधरी

आपका जन्म संवत् भाद्रपद, कृष्ण ६, १६१२ को मिर्जापुर में हुआ। संवत् १९३३ में आपने 'कवि-वचन-सुधा' और संवत् १६३८ में 'आनन्द-कादम्बिनी' नामक पत्रिका का प्रकाशन किया। हिन्दी में समालोचना का सूत्रपात आपके द्वारा हुआ। आपने जो कुछ लिखा स्वांतः-सुखाय ही लिखा। आपने कई नाटक भी लिखे हैं, जिनमें 'भारत-सौभाग्य' विशेष प्रसिद्ध है। आपका उपनाम 'प्रेमघन' था। संवत् १६८० में आपका स्वर्गवास हो गया।

पं० प्रतापनारायण मिश्र

आपका जन्म आश्विन कृष्ण ६, संवत् १६१३ को उन्नाव में पंडित संकटाप्रसाद ज्योतिषी के यहाँ हुआ। आप प्रसिद्ध 'ब्राह्मण' पत्र के सम्पादक थे। कालाकांकर के 'हिन्दुस्तान' नामक पत्र के भी सम्पादकीय विभाग से कुछ दिनों तक आपका सम्बन्ध था। आप हास्यरस के सिद्-हस्त लेखक थे। आपने १२ पुस्तकों का अनुवाद किया है और २० पुस्तकें लिखी हैं। आपका देहान्त आषाढ़ शुक्ल ४, संवत् १६५१ को हुआ।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का नाम हिन्दी साहित्य में स्थायी महत्त्व की रचना के लिए उपयुक्त उपकरण-संग्रह और क्षेत्र-परिष्कार संभव करने के लिये चिरस्मरणीय रहेगा। गत शताब्दी के अंतिम दशक में, जिस समय वे हिन्दी की सेवा की ओर आकृष्ट हुए, दो बातें प्रायः स्पष्ट हो चली थीं। एक तो यह कि ब्रजभाषा हिन्दू समाज के मन को मथनेवाले अनेक भावों को संतोषजनक रूप से व्यक्त नहीं कर सकेगी और दूसरी यह कि खड़ीबोली को काव्य-भाषा के योग्य बनाने के लिए उसका बहुत अधिक परिष्कार करने की आवश्यकता है। विचक्षण समालोचक की दृष्टि से सम्पन्न होने के कारण उन्होंने हिन्दी-साहित्य की इस आवश्यकता को समझा और 'सरस्वती'-सम्पादक के पद पर आरूढ़ होकर वह उद्योग किया जिससे खड़ीबोली में हम आज पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, बाबू मैथिलीशरण गुप्त, तथा अन्य अनेक सुकवियों और सुलेखकों को सफलतापूर्वक साहित्य-सृजन करते देख रहे हैं।

सन् १९०४ से लेकर लगभग २० वर्ष तक द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' का सम्पादन किया। आपने अंग्रेजी, संस्कृत और बंगला के अनेक-ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद किया। आप बड़े स्वाभिमानी साहित्यसेवी थे, और समालोचना करने में आप बड़ी स्पष्टवादिता से काम लेते थे। २१ दिसम्बर, सन् १९३८ को जलोदर रोग से पीड़ित होकर आप स्वर्गवासी हुए। आपका जन्म दौलतपुर गाँव, जिला रायबरेली में संवत् १९२९ में हुआ था।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त

बाबू बालमुकुन्द गुप्त का नाम हिन्दी के पत्रकारों में चिरस्मरणीय रहेगा। आपका प्रारम्भिक सम्बन्ध उर्दू से था, किन्तु हिन्दी भाषा से प्रेम होते ही आपने शीघ्र ही उससे अभिज्ञता प्राप्त कर ली, और कालाकाँकर के 'हिन्दुस्तान' के सहकारी सम्पादक रहकर आपने रही-सही कमी

की पूर्ति कर डाली। 'हिन्दी-बंगवासी', 'भारत-मित्र' आदि का बहुत कुछ विकास आपकी लेखन-कला के कारण हुआ। आपने अनेक पुस्तकों का प्रणयन तथा अनुवाद हिन्दी में किया। आपका जन्म संवत् १९२२ में रोहतक जिले में हुआ। हिन्दी-साहित्य के दुर्भाग्य से थोड़ी ही आयु में, संवत् १९६४ में, आपका स्वर्गवास हुआ।

पं० माधवप्रसाद मिश्र

आप भज्झर, जिला रोहतक के निवासी थे। आप हिन्दी गद्य के बड़े अच्छे लेखक थे। 'सुदर्शन' नामक पत्र का आपने बड़ी विद्वत्ता के साथ सम्पादन किया था। आप उच्च कोटि के दार्शनिक भी थे।

आपका जन्म-काल संवत् १९२७ माना जाता है। ४० वर्ष की अल्प अवस्था में आपका देहान्त हुआ।

पं० श्यामबिहारी मिश्र

आधुनिक काल में हिन्दी साहित्य की समालोचना के विकास के लिए सामग्री उपस्थित करने के क्षेत्र में पं० श्यामबिहारी मिश्र ने अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य किया है। 'मिश्रबन्धु-विनोद', 'हिन्दी नवरत्न' आदि आपके वे ग्रन्थ हैं जिनकी रचना आपने अपने बन्धुओं के सहयोग से की है। सभापति पद पर आपका निर्वाचन करके हिन्दी साहित्य-सम्मेलन आपकी सेवाओं का उचित सम्मान कर चुका है। आपका जन्म संवत् १९३० में हुआ।

पं० पद्मसिंह शर्मा

हिन्दी में तुलनात्मक समालोचना के प्रवर्तक का श्रेय पं० पद्मसिंह शर्मा को ही प्राप्त है। वे हिन्दी संस्कृत और फारसी के विद्वान थे। उनकी यह विद्वत्ता उनकी आलोचनात्मक भाषा में प्रतिबिम्बित होती रहती थी। 'बिहारी सतसई' पर 'संजीवन भाष्य' लिखकर आपने प्रथम मंगलाप्रसाद पारितोषिक संवत् १९८० में प्राप्त किया। संवत् १९८५ में मुजफ्फरपुर में आपने हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का सभापतित्व

किया । संवत् १९८९ में लगभग ४६ वर्ष की आयु में आपका स्वर्गवास हुआ ।

बाबू पुरषोत्तमदास टंडन

टंडन जी का जन्म प्रयाग में संवत् १९३९ में हुआ । संवत् १९६४ में आपने एम० ए० पास किया । उसके दो वर्ष बाद ही आप एल-एल० बी० भी हो गए, पं० बालकृष्ण भट्ट के सम्पर्क से आप में हिन्दी-प्रेम का संचार हुआ । 'अभ्युदय' के प्रथम सम्पादक के रूप में आपने हिन्दी सेवा का श्रीगणेश किया । हिन्दी-साहित्य सम्मेलन का वर्तमान स्वरूप आपकी लगन, अध्यवसाय, संगठन-प्रवीणता और कल्पना-शक्ति का फल है । आप हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के तेरहवें अधिवेशन के सभापति रह चुके हैं ।

पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी

पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी हिन्दी के एक अच्छे पत्रकार हैं । 'हिन्दी केसरी', 'चित्रमय जगत्' आदि से उनका तब से सम्बन्ध था, जब वे प्रायः एक नवयुवक थे । हिंदी साहित्य-सम्मेलन के स्तम्भों में वे एक हैं । आपने मेघदूत का हिन्दी अनुवाद बहुत सुन्दर पद्यों में किया है, तथा गद्य में अनेक पुस्तकें लिखीं और सम्पादित की हैं । आपने 'दासबोध' का हिन्दी अनुवाद किया । आपका जन्म संवत् १९४४ में कानपुर जिले में हुआ ।

श्री गुलाबराय

हिन्दी के निबन्ध-लेखकों में श्री गुलाबराय का नाम उल्लेख-योग्य है । आप इस समय 'साहित्य-संदेश' के सम्पादक हैं । सेन्ट जान्स कालेज आगरा में आप हिन्दी अध्यापक भी हैं । आपने विभिन्न विषयों पर अनेक पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें से 'नवरस', 'प्रबन्ध प्रभाकर', 'विज्ञान-वार्ता' और 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास' विद्यार्थियों के लिये

उपयोगी हैं। आप १७ वर्ष तक छतरपुर राज्य में प्राइवेट सेक्रेटरी के पद पर रहे। आपका जन्म संवत् १९४४ में हुआ।

श्री गणेशशंकर विद्यार्थी

श्री गणेशशङ्कर विद्यार्थी अपने समय के हिन्दी पत्रकारों में सबसे अधिक निर्भीक् और त्यागशील थे। आपका साप्ताहिक पत्र 'प्रताप' राष्ट्रीय समस्याओं पर प्रकाश डालने में अद्वितीय था और यद्यपि वह अब भी प्रकाशित हो रहा है, किन्तु उसमें श्री गणेशशङ्कर के ओजस्वी व्यक्तित्व के स्पर्श का अभाव निर्विवाद रूप से झलकता है। आपने विक्टर ह्यूगो के 'नाईंटी थ्री' नामक उपन्यास का हिन्दी में अनुवाद किया। राजनैतिक कार्यकर्ताओं में आपका एक विशेष स्थान था। हिन्दू मुसलिम दंगे में शान्ति-स्थापन का प्रयत्न करते हुए आप सन् १९३१ में परलोकवासी हुए। आप हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति भी हो चुके थे। आपका जन्म संवत् १९४७ में हुआ था।

पं० अवध उपाध्याय

पं० अवध उपाध्याय एक उच्चकोटि के गणितज्ञ थे। श्री प्रेमचन्दजी के उपन्यासों की आलोचना करके वे हिन्दी-साहित्य-जगत में समालोचक के रूप में भी प्रसिद्ध हुए। आपने अनेक पुस्तकों का अनुवाद, सम्पादन और प्रणयन किया। प्रायः सामयिक पत्रों में आपके आलोचनात्मक लेख निकला करते थे। जीवन के अन्तिम वर्षों में आपने पेरिस विश्वविद्यालय से 'स्टेट डाक्टरेट' प्राप्त किया। संवत् १९९२ में, मृत्यु से पूर्व, लखनऊ विश्वविद्यालय के गणित विभाग में आपने एक वर्ष से कुछ अधिक समय तक अध्यापन-कार्य किया था।

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी हिन्दी के वर्तमान सक्रिय पत्रकारों में अग्रणी हैं। 'विशाल भारत' का सम्पादन करते हुए आप हिन्दी साहित्य की अनेक समस्याएँ सामने लाए। अपने आन्दोलनों में आपको आंशिक

सफलता भी प्राप्त हुई। आपने कविरत्न सत्यनारायण की जीवनी लिखी आपके स्फुट निबन्ध भी उपयोगी हैं। आजकल आप ओरछा राज्य से प्रकाशित होने वाले 'मधुकर' नामक पत्र का सम्पादन कर रहे हैं। इस पत्र के द्वारा बुन्देल खंडी कवियों, कहावतों, देहाती गीतों, प्राकृतिक दृश्यों आदि के सम्बन्ध में विविध प्रकार की जानकारी पाठकों के सामने उपस्थित करने की चेष्टा चतुर्वेदी जी कर रहे हैं।

पं० उदयशंकर भट्ट

श्री उदयशंकर भट्ट ने काव्य और नाटक दोनों ही क्षेत्रों में यथेष्ट सेवा की है। 'तक्षशिला' और 'मानसी' आपके काव्य हैं; 'सगर विजय', 'अम्बा', 'मत्स्यगंधा', 'विश्वामित्र' आदि आपके नाटक हैं। स्फुट कविताओं के आपके दो संग्रह 'राका' और 'विसर्जन' नाम से प्रकाशित हुए हैं। आपने एकांकी नाटक भी लिखे हैं। आपका जन्म सं० १९५५ में हुआ। आपके नाटकों और कविताओं का हिन्दी संसार ने अच्छा स्वागत किया है।

डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'

पं० रामशङ्कर शुक्ल 'रसाल' ब्रजभाषा के प्रमुख कवि और अलंकार-शास्त्र के विशेषज्ञ हैं, स्वर्गीय 'रत्नाकर' के 'उद्धवशतक' की आपने जो भूमिका लिखी है उससे आपकी विद्वत्ता प्रकट होती है। 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' 'अलंकार-पीयूष', 'आलोचनादर्श' आदि आपके लिखे ग्रन्थ हैं। आपने हिन्दी भाषा का कोष बड़े परिश्रम से सम्पादित किया है। प्रयाग विश्वविद्यालय में आप हिन्दी के अध्यापक हैं। विश्वविद्यालय से आपको डि० लिट० की उपाधि मिल चुकी है।

पं० गणेश द्विवेदी

पं० गणेश द्विवेदी ने हिन्दी के गद्य-साहित्य पर जो प्रकाश डाला है उससे हिन्दी-साहित्य के विद्यार्थियों को सहायता मिली है। 'हिन्दी नाटक', 'हिन्दी उपन्यास का विकास' आदि विषयों पर आपने समय-

समय पर अच्छे निबन्ध लिखते हैं। आपके एकांकी नाटकों का भी हिन्दी में आदर हुआ है। आप एक अच्छे संगीतज्ञ भी हैं। हिन्दुस्तानी ऐकेडेमी के साहित्यिक विभाग में आप बहुत दिनों से संलग्नतापूर्वक कार्य कर रहे हैं।

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी आलोचक के रूप में हिन्दी पाठकों के सामने आ रहे हैं। 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका', 'सूर-साहित्य', 'कबीर' ये तीन आपके आलोचनात्मक ग्रन्थ हैं, जिनका हिन्दी-संसार में अच्छा स्वागत हुआ है। आपकी आलोचनाएँ गम्भीर और संयत होती हैं, आप शान्तिनिकेतन में हिन्दी और संस्कृत के अध्यापक हैं। आपका जन्म सम्वत् १९६४ में हुआ।